

सप्तम अध्याय
मार्कण्डेय की कहानियों का शिल्प पक्ष

मार्कण्डेय की कहानियों का शिल्प पक्ष

कलाकार अपनी अनुभूति, संवेदना और विचार को जिस रचना के माध्यम से पाठक तक संप्रेषित करता है, वह रचना एक कलात्मक इकाई होती है और इस कलात्मक इकाई (रचना) के दो बुनियादी पक्ष- वस्तु और शिल्प हैं। केवल कहानी साहित्य ही नहीं, बल्कि संपूर्ण साहित्य-चिंतन का विकास वस्तु और शिल्प के बुनियादी प्रश्नों से टकराकर ही संभव हुआ है। इस नाते भी, एक कहानीकार (साहित्यकार) को बेहतर ढंग से समझने हेतु, उसकी कहानियों के सम्यक अनुशीलन के लिए कहानी के वस्तु पक्ष के साथ-साथ उसके शिल्प-पक्ष की भी पहचान अत्यंत आवश्यक होती है।

7.1 शिल्प संबंधी मार्कण्डेय के विचार

रचना (कहानी) के लिए शिल्प भी अपना महत्त्व रखता है। यहाँ हिन्दी के कहानीकार जैनेन्द्र के उस मत को लक्ष्य किया जा सकता है जिसे वे अपने निबंध- 'मैं और मेरी कला' में लिखते हैं—“शिल्प अनावश्यक नहीं है। कारीगरी को किसी तरह छोटी चीज नहीं समझा जा सकता। लेकिन उससे किनारा बनता, नदी का पानी नहीं बनता।”¹ अर्थात् वे शिल्प के महत्त्व को 'रचना के लिए स्वीकार करते हैं, पर उतना नहीं कि जिससे रचनाकार (कहानीकार) पर रूपवाद हावी हो जाए। वस्तुतः शिल्प (टेकनीक) का महत्त्व यथार्थ जीवन (वस्तु या कथ्य) के अंकन तथा जीवन के प्रति होने वाले दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति में होता है। एक रचना(कहानी) के लिए वस्तु (कथ्य) और शिल्प (रूप) की एकात्मकता अत्यंत आवश्यक है। रचना में वस्तु की प्राथमिकता होने के बावजूद भी न तो शिल्प को अनावश्यक समझा जा सकता है और ना ही उसे रचना के वस्तु (कथ्य) से अविच्छिन्न। रचना का वस्तु (कथ्य) पक्ष अपने अनुरूप शिल्प की मांग करता है, इसी कारण रचनाकार (कहानीकार) अपने वस्तु (कथ्य) की कलात्मक अभिव्यक्ति हेतु समस्त रचनात्मक कौशल को अपनाने हेतु आग्रहशील रहता है।

मार्कण्डेय की पहचान एक यथार्थवादी कहानीकार की है। उनके कहानीकार का मार्क्सवादी विचारधारा के प्रति रुझान भी उन्हें रचना (कहानी) के वस्तु और शिल्प संबंधी प्रश्न में उस ओर प्रवृत्त करता है, जहाँ वे शिल्प को महत्त्वपूर्ण मानते हुए उसे वस्तु (यथार्थ) को कलात्मक रूप में अभिव्यक्त करने के माध्यम के रूप में स्वीकार करते हैं। इस संदर्भ में उनका 'भूदान'

कहानी-संग्रह की भूमिका में व्यक्त निम्न मंतव्य पढ़ा जा सकता है—“वास्तव में कहानी के सामने अभिव्यक्ति अथवा शिल्प की बारीक पैठ के प्रश्न के साथ ही मुख्य प्रश्न है जीवन की नयी उभरती वास्तविकताओं के उसके पूरे परिवेश के साथ ग्रहण करने का।”² जिससे उनके कहानीकार का यथार्थवादी रुख जाहिर होता है। साथ ही यहाँ, इस बात को भी समझा जा सकता है कि उनका कहानीकार रचना के लिए शिल्प को महत्त्वपूर्ण समझने के बावजूद शिल्प की बारीकियों में गोते लगाने के बजाय अर्थात् उसके प्रति अतिरिक्त सजगता की जगह परिवर्तित जीवन-संदर्भों के यथार्थ को पकड़ना ज्यादा जरूरी समझता है। यही कारण है कि वे शिल्प के अतिरिक्त दवाब स्वरूप रूपवाद को कहानी (रचना) में यथार्थ की उपेक्षा के रूप में देखते हैं। इस संदर्भ में उनका अपने कहानी-संग्रह ‘बीच के लोग’ की भूमिका में कहा गया कथन द्रष्टव्य है—“रूप-विधान और शिल्प के चमत्कार की कथरी ओढ़ने वाले संसार के अधिकांश कलाकारों एवम् साहित्यिकों की मनोवृत्ति का रहस्य यही है कि आधुनिक मानव की दुरूह एवं अनिश्चित मनोभूमि का धरातल छू पाने में असमर्थ होकर वे चिंतन के रूख को ही दूसरी ओर मोड़ देना चाहते हैं।”³ यहाँ भी मार्कण्डेय के कहानीकार का वस्तुवादी या यथार्थवादी रुख उजागर होता है। साथ ही उनके कहानीकार का साहित्य के प्रति उपयोगितावादी मूल्य-बोध भी समझ में आता है। जिसे डॉ. उषा चौहान के निम्न मंतव्य में भी पुष्ट होते हुए देखा जाता है—“मार्कण्डेय का दृष्टिकोण कलावादी और रूपवादी नहीं है। वे उपयोगितावादी रचनाकार हैं तथा ‘कला जीवन के लिए’ सिद्धांत के पक्षधर हैं। उनके अनुसार कला जन्म से ही जीवन में बँधी है अतः वे सम्पूर्णतः सोद्देश्य भी होती है। उद्देश्य को नकारना केवल कला या रचना को ही जड़ीभूत नहीं करता बल्कि समाजबोध की पिछली सम्पूर्ण यात्रा को भी निरर्थक बना देता है।”⁴

इस प्रकार मार्कण्डेय का कहानीकार कहानी (रचना) में वस्तु की प्राथमिकता स्वीकारते हुए भी शिल्प की अवहेलना नहीं करता है। हाँ, बेशक उनका कहानीकार शिल्प के अतिवादी छोर पर पहुँचकर आत्मतोष का भाव बोध करने से स्वयं को बचाता है। सारतः कहा जाए तो उनका कहानी के प्रति यथार्थवादी (वस्तुगत) दृष्टिकोण उनकी कहानियों के शिल्प को एक यथार्थवादी पहचान देता है। जिसे विस्तार में निम्न शीर्षकों कथा-संयोजना, भाषा-संयोजना और शैली संयोजना के अंतर्गत समझा जा सकता है।

7.1.1 कथा-संयोजना

जैसा कि यह सर्वमान्य तथ्य है कि किसी भी कहानी की कलात्मकता कहानीकार के कुशल

कथा-संयोजना पर ही निर्भर करती है। कहने की बात नहीं है कि कहानी के कथा-संयोजन के दो महत्त्वपूर्ण पहलू होते हैं— कथानक और चरित्र।

7.1.1.1 कथानक

उल्लेखनीय है कि किसी भी कहानी की कुशल कथा-संयोजना हेतु उसका कथानक महत्त्वपूर्ण होता है, क्योंकि कथानक में ही किसी कहानी के कथा-क्रम या घटना-व्यापार की तार्किक परिणति होती है।

मार्कण्डेय का कहानीकार कहानी के लिए कथानक को महत्त्वपूर्ण मानता है और कथानक को यथार्थ जीवन-संदर्भों से सिक्त होना जरूरी। इसी वजह से मार्कण्डेय स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य के हिंदी कहानी-लेखन में जब कथानक के ह्रास की चर्चा हो रही होती है, तब ग्रामीण जीवन-संदर्भों से अंतर्गुम्फित कहानियों के सशक्त कथानक का उल्लेख कर अपने यथार्थवादी (वस्तुवादी) शिल्प का संकेत करते हैं—“...कहना नहीं होगा कि कहानी को सशक्त साहित्य-विधा के रूप में एक बार फिर विचार-विमर्श का केन्द्र बना देने का श्रेय इन्हीं ग्राम कथानकों को है। नया वस्तु-संचयन, रूपगत गठन, प्रतीक-योजना, शब्द-संस्कार, नयी उभरती हुयी सच्चाइयों की समझ ही नहीं, वरन् उसके पूरे परिवेश के साथ, उसे कहानी में उतार ले आने का जो काम ग्राम-कथानकों ने किया, उसे पूर्वग्रह विहीन होने की दशा में, काल्पनिक मसाले पर कहानियाँ रचने वाले कथाकारों ने भी मुक्त होकर सराहा है।”⁵ यहाँ ध्यान दिया जाए तो प्रमुख रूप से दो बातें समझ में आती हैं। पहली, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी-लेखन में ग्राम-कथानकों का महत्त्व। दूसरी, कथानकों का बदलते जीवन और परिवेश की वास्तविकता से सम्पृक्ति पर मार्कण्डेय के कहानीकार का कल्पना से गढ़े कथानकों के बजाय यथार्थ जीवन को प्रतीकित करने वाले कथानकों का महत्त्वपूर्ण मानना—“कहना न होगा कि प्रेमचंद के बाद कल्पना जीवी-लेखकों-द्वारा कथानकों के नाम पर इसी तरह वैयक्तिक शिल्प-चक्र रचे गये थे, जो निस्संदेह लेखकों की कलात्मक रुचियों के साथ ही, उनके व्यक्तित्वों की चिंतन-प्रणाली के समर्थ प्रतिरूप थे, और हैं, पर जीवन-संस्पर्श की व्यापक कमी और सामाजिक परिस्थियों के विकास और वास्तविकता की ग्रहणशीलता का अभाव ही इन कहानियों की सबसे बड़ी दुर्बलता थी, जिसने समूचे कहानी-साहित्य को नकली परिवेश से भर दिया था।”⁶ इस प्रकार कथा-संयोजना के संदर्भ में कथानक से जुड़ी चर्चा को मार्कण्डेय के कहानीकार की दृष्टि से देखा जाए तो निम्न बातें कही जा सकती हैं। पहली, मार्कण्डेय का कहानीकार कहानी-शिल्प में कथा-

संयोजना तथा कथा-संयोजना के संदर्भ में कथानक के सशक्त होने की वकालत करता है। दूसरी, उनका कहानीकार कल्पना-प्रसूत कथानकों के बजाय यथार्थ (वास्तविक) जीवन को प्रतीकित करने वाले कथानकों को महत्त्व देता है। तीसरी, उनका कहानीकार कथानक में कथा क्रम, घटना या क्रियाव्यापार की अन्विति तथा उसकी विश्वसनीयता की बात करता है। अर्थात् कथानक के यथार्थपरक होने की बात करता है। चौथी, उनका कहानीकार स्वातंत्र्योत्तर परिदृश्य को हिंदी कहानी-लेखन में ग्रामीण यथार्थ संदर्भों से संस्पर्शित कथानकों को हिंदी कहानी की यथार्थवादी कहानी-धारा के विकास के रूप में देखता है।

मार्कण्डेय की कहानियाँ प्रारंभ से ही ग्राम-ग्रामेतर जीवन-संदर्भों को प्रतीकित करती रही हैं तथापि उनकी पहचान ग्रामीण जीवन-बोध के एक कहानीकार की ही बनती है। उनकी कहानियाँ इस बात का साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं कि उनकी कहानियाँ गढ़ी हुयी होने के बजाय सीधे ग्रामीण वास्तविक जीवन से उठायी गयी हैं। जहाँ कथा के ह्रास की जगह ग्रामीण यथार्थ जीवन संदर्भित है। साथ ही साथ उनकी कहानियों में कथा का विकास एक ऐसी तार्किक परिणति की ओर अग्रसर रहता है जिससे कथा से जुड़ी घटना, क्रिया या कार्य-व्यापार की संभवता खंडित नहीं होती है। अर्थात् कथा के केन्द्र में स्थापित संघर्ष या समस्या का प्रवाह इस रूप में होता है, जहाँ घटनाओं का पूर्वापर संबंध, कुतूहल और औचित्य आदि पहलू कुंठित नहीं होते हैं। कहने की जरूरत नहीं है कि ऐसा कथानक ही कहानीकार मार्कण्डेय की नजर में प्रत्यक्ष जीवन से संस्पर्शित सशक्त कथानक की संज्ञा पाता है। यहाँ उनकी ग्रामीण जीवन की कुछेक कहानियों का उल्लेख करते हुए उनकी कहानियों में कथानक की अवस्थिति का संज्ञान लिया जा सकता है।

यहाँ सबसे पहले उनकी 'गुलरा के बाबा' कहानी का जिक्र किया जा सकता है। इस चरित्र-प्रधान कहानी के कथानक में प्रकृति से अंतरंग रिश्ता रखने वाले ग्रामीण जीवन में व्याप्त सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक संदर्भों को वास्तवायित करने वाली एक स्पष्ट कथा होती है। जहाँ कथा के विकास में घटना व कार्य-व्यापार के आरंभ, मध्य और अंत का एक क्रमिक विकास तथा उसकी अन्विति सहज देखने को मिलती है। गुलरा के बाग में एक गरीब ग्रामीण जन (चैतू) की सरपत काटने की घटना के आरंभ में ही, मुख्य कथा का कारण तत्त्व सुनियोजित रूप से निबद्ध रहता है। स्वातंत्र्योत्तर सामाजिक-आर्थिक विषमता से पूर्ण ग्रामीण समाज में ग्रामीण आमजन की गरीबी और लाचारी, गाँव की सांस्कृतिक पहचान में कुश्ती-दंगल की परंपरा और गाँव की

सामुदायिक भावना में छिपा मानवीयता-बोध का कथ्य सरपत काटने की घटना, बाबा और चैतू की कुशती की मुठभेड़, चैतू की टाँग टूट जाने की खबर, बाबा का चैतू की टूटी टाँग बिठाने का उपक्रम तथा बाबा की चारित्रिक दृढ़ता में छिपा उनका संवदेनशील कोमल मन का मानवीय रवैया रूपी क्रिया-व्यापारों में भली-भाँति उज्जीवित होता है। जहाँ घटनाओं का पूर्वापर संबंध, कुतूहल और रोचकता का सफल निर्वाह होता है। इस कहानी के संदर्भ में यदि कहानीकार अमरकांत की निम्न टिप्पणी का अवलोकन किया जाए तो 'गुलरा के बाबा' कहानी के ग्रामीण यथार्थ-संस्पर्शित सशक्त कथानक की बात समझी जा सकती हैं—“हिंदी कहानी उस समय तक पूरी तरह भावुकता और काल्पनिकता की गिरफ्त में थी।... यह उस समय होता है, जब पिछड़ी हुई वास्तविकता को, अनुकरण में काल्पनिक भावुक सदिच्छाओं के सहारे जबर्दस्ती कलात्मक, आधुनिक या क्रांतिकारी बनाने की चेष्टा की जाती है।... उस समय 'गुलरा का बाबा' पढ़कर मुझे ताज़गी का अनुभव हुआ था, जैसे गर्मी की घुटन में शीतल हवा का स्पर्श। यह वास्तविकता है कि जब हर प्रकार का फार्मूलाबद्ध लेखन नियंत्रण के बाहर जाकर रुढ़ और समस्याग्रस्त होकर आकाश में विलुप्त होने के निकट पहुँच जाता है, तो उसकी रक्षा के लिए धरती का ही सहारा लेना पड़ता है।”⁷ यहाँ आकाश की ओर अग्रसर और धरती का सहारा लिए क्रमशः पदों के माध्यम से काल्पनिकता के सहारे गढ़े कथानक और यथार्थ जीवन से उठाए गए कथन के अंतर को स्पष्ट करने के क्रम में 'गुलरा के बाबा' कहानी के महत्त्व को समझा जा सकता है। यही बात मार्कण्डेय की अन्य चरित्र प्रधान कहानियों—'घूरा', 'सात बच्चों की माँ', 'हंसा जाई अकेला', 'गनेसी' आदि के कथानक के संदर्भ में कही जा सकती है।

औरतलब है कि मार्कण्डेय की कहानियों के ग्रामीण यथार्थ-जीवन से संस्पर्शित सशक्त कथानक की चर्चा के क्रम में उनकी घटना प्रधान कहानियों का भी साक्ष्य दिया जा सकता है। इस संदर्भ में उनकी 'आदर्श-कुक्कुट-गृह' तथा 'भूदान' आदि कहानियों को प्रमुख रूप से देखा जाता है। इन दोनों कहानियों के कथानक में व्यंग्य तत्त्व बड़ी सहजता के साथ अंतर्गुम्फित रहता है, जो स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन के बदलते जीवन-संदर्भ की कथा को व्यंग्यात्मक ढब के साथ उकेरता है। 'आदर्श कुक्कुट-गृह' कहानी में गाँव के छोटे पैमाने के व्यवसायिक संस्थानों आदि के विकास-क्रम में, स्वातंत्र्योत्तर शासन-व्यवस्था द्वारा आदर्श कुक्कुट-गृह की स्थापना की घटनात्मकता इस बात का साक्ष्य प्रस्तुत करती है कि मार्कण्डेय के कहानीकार के लिए कथानक का हास या कथा

का अभाव जैसी कोई समस्या नहीं है, क्योंकि उनकी यथार्थ-दृष्टि बदलते ग्रामीण जीवन संदर्भों पर टिकी होने के कारण वहीं से मौलिक कथानक को चुन लेती है। प्रस्तुत कहानी की कथा-संयोजना के क्रम में इसका कथानक इस रूप में उभर कर आता है कि कथा के आरंभ में ही आदर्श कुक्कुट-गृह की स्थापना से जुड़ी चर्चा से स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण आर्थिक विकास-कार्यक्रम का कथ्य स्पष्ट हो जाता है—“नया साहब बड़ी थोड़ी उमिर का है, लेकिन क्या समझ दी है भगवान ने उसे।” बसावन ने कहा और रमजान उसकी टूटी चारपाई की पाटी पकड़ कर बैठ गया, “हमको भी मेम्बर बना ले गया है। अँगूठे की टीप भी ले ली है। मुदा पइसा-कौड़ी के नाम पर तो वही चार मुर्गी-मुर्गे हैं, मेरे पास।... ”इतना भी तुम्हारी समझ में नहीं समाता तो तुम रह चुके इस देश में। अरे भइया, पइसा ही सब कुछ नहीं है। देखो जुम्मन चार मुर्गी-मुर्गे देने का वादा करके आदर्श कुक्कुट-गृह का मेम्बर बन गया है।”⁸ यही नहीं, इस कहानी के कथानक के विकास में आदर्श कुक्कुट-गृह की स्थापना से जुड़ी प्रक्रिया को इस रोचक ढंग से प्रस्तुत किया जाता है, जहाँ कुतूहलता सर्वत्र रिसती रहती है। जहाँ, स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जन-जीवन की गरीबी, बेरोजगारी तथा लघु-कुटीर उद्योगों की मरणासन्न अवस्था का सच तो उजागर होता ही है, साथ ही साथ सरकारी कर्मचारीगण की आर्थिक विकास-कार्यक्रमों के क्रियान्वयन की भ्रष्टता का कथ्य भी प्रत्यक्ष होता है—“रमजान उठ खड़ा हुआ। उसने अपने टूटे चश्में को हाथ से हिलाया, नीचे ऊपर किया। तब तक धीरे-धीरे चपरासियों ने छोटे साहब को घेर लिया और एक-दो-तीन... मुर्गे इक्कों पर बँध गए, साइकिलों के कैरियरों में टँग गए, झोलों में कस लिए गये और मेहमानों के जाते-जाते आदर्श कुक्कुट-गृह खाली हो गया।... फिर भी आदर्श कुक्कुट-गृह बाकायदा स्थापित हो चुका था।”⁹ जिससे यह समझा जा सकता है कि ग्रामीण जीवन की नई घटनात्मकता (स्वातंत्र्योत्तर आर्थिक विकास-कार्यक्रम) को मार्कण्डेय का कहानीकार कथा-संयोजना के क्रम में इस रूप में पिरोता है कि वह ग्रामीण यथार्थ जीवन से संस्पर्शित एक सशक्त कथानक का रूप ले लेता है। यही बात मार्कण्डेय की ग्रामीण जीवन की नई घटनात्मकता ‘भूदान आंदोलन’ को केन्द्रित करने वाली कहानी ‘भूदान’ के संदर्भ में भी कही जा सकती है।

दरअसल, यह मार्कण्डेय के कहानीकार का वस्तुवादी दृष्टिकोण ही है कि वह अपने यथार्थ संस्पर्शित सशक्त कथानक को बखूबी प्रस्तुत करने हेतु प्रतीक, फैंटेसी तथा प्लेशबैक आदि कथा-शिल्प का भी अवगाहन करता है, जो उनकी कहानियों को न सिर्फ कलात्मक बल्कि

बहुवचनात्मक भी बनाता है। मार्कण्डेय स्वयं इस संबंध में इस बात का उल्लेख करते हैं—“ कुछ आश्चर्य नहीं कि आने वाले समय में परिवर्तनों पर दृष्टि रखने वाले लेखक को मौलिक प्रश्नों के साथ वास्तविकता के अंकन के लिए फैण्टेसी अथवा जासूसी कथा-शिल्प का सहारा लेना पड़े।”¹⁰ जिससे दो प्रमुख बातें जाहिर होती हैं। पहली, मार्कण्डेय का कहानीकार वस्तुवादी दृष्टिकोण रखने के बावजूद कहानी-शिल्प के प्रति एक लचीला रुख रखता है। दूसरी, मार्कण्डेय का कहानीकार कथा-शिल्प की नवीनता या उसके प्रयोग की जरूरत तभी महसूस करता है जब वह परिवर्तित समय की सचाइयों और प्रश्नों के यथार्थ-अंकन के लिए आवश्यक प्रतीत होती हैं। यहाँ उक्त तथ्य की संपुष्टि हेतु मार्कण्डेय की कुछेक कहानियों के कथानकों की चर्चा की जा सकती है। इस संबंध में उनकी ‘जूते’, ‘साबुन’ सोहगइला’ आदि कहानियों का उल्लेख किया जा सकता है।

गौरतलब है कि उक्त तीनों कहानियों की कथा-संयोजना के संदर्भ में प्रतीक तत्त्व का सहारा लिया जाता है, जो इनके कथानकों को प्रतीकात्मक कथा-शिल्प का रूप देता है। किंतु यहाँ भी उक्त प्रतीकात्मक कथा-शिल्प का प्रयोग बदलते ग्रामीण जीवन-संदर्भों को वास्तवायित करने के अभिप्राय से ही होता है। उनकी ‘जूते’ कहानी के आरंभ का दृश्य पहले देखा जाए—“ यह तो जूते नहीं हो सकते, और चाहे कुछ भी हो। मनोहर सोचने लगा-लेकिन बहू जी बार-बार इसी कमरे में दूढ़ने को क्यों कहती हैं? उसे एक बार फिर अपनी आँखों पर संदेह हुआ और वह कमरे के बीच खड़ा होकर चारों ओर घूम गया-कहीं कुछ नहीं, बच्चों के कवेल दो लाल खिलौने! उसने उन्हें हाथ में उठा लिया, यह तो बड़े चिकने हैं, पैर में कैसे पहने जा सकते हैं? और उसके आगे मालिक का चमरौधा नाच गया,... मैं बड़ा होकर जरूर एक जूता बनवाऊँगा। चाहे उसके लिए कितना ही काम क्यों न करना पड़े।”¹¹ इसी तरह आलोच्य कहानी के अंत का दृश्य कुछ यह होता है—“ पर लौटते समय यह पलास की पत्तियाँ, आग की तरह जलती धूप और जेठ की दुपहरिया, जैसे कुछ नहीं थी, क्योंकि रास्ते पर धूल थी, कंकड़ थे और मनोहर की बगल में एक कागज का डिब्बा दबा था, जिसमें उसके लिए लाल-लाल जूते थे।”¹² यहाँ ध्यान दिया जाए तो यह समझा जा सकता है कि कहानी के आरंभ में जो ‘जूते’ कहानी का केन्द्रीय कथ्य बनता है उसके कई प्रतीकात्मक अर्थ होते हैं, जो स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन के यथार्थ को प्रतीकित करते हैं। पहली, जूते मनोहर जैसे लोगों के परिवार के लिए सामान्य सीमित इच्छा का प्रतीक है, जो उन्हें नसीब नहीं होती हैं और जिसे प्राप्त करने हेतु मनोहर जैसा बालक अनथक परिश्रम करने को तत्पर रहता

है। कहने का तात्पर्य यह है कि कहानी के आरंभ में ही ग्रामीण आमजन की गरीबी और अभावग्रस्ता का कथ्य संकेतित हो जाता है। दूसरी, ग्रामीण बालक मनोहर के आँखों के समक्ष जूते के रूप में जो बिम्ब दृश्यमान है, वह मालिक (उच्च वर्ग) का कड़े नाल वाला तेल पिया चमरौंघा होता है, जो उस जैसे लोगों (मजदूरों) के साथ हाने वाले शोषण-पूर्ण व्यवहार को संकेतित करता है। अर्थात् कहानी के आरंभ में ही मनोहर जैसे ग्रामीण की सामाजिक दयनीय स्थिति का कथ्य प्रतीकित हो जाता है। इसी तरह प्रस्तुत कहानी के अंत के दृश्य को समझा जाए तो यह स्पष्ट कहा जा सकता है कहानी के समूचे कथा-प्रवाह में जूते केन्द्रीय कथ्य बना रहता है। पर जहाँ कहानी के आरंभ में जूते को लेकर मनोहर के मन में जो अनभिज्ञता, कुतूहलता, जिज्ञासा, प्रश्नाकुलता और डर के भाव होते हैं, वे कहानी के अंत के दृश्य में एक आह्लाद के भाव में तब्दील हो जाते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं है कि आलोच्य कहानी में मनोहर के भावजगत की उक्त यात्रा में ग्रामीण मेहनतकश वर्ग की आर्थिक-सामाजिक स्थितियों का कथ्य तथा ग्रामीण-शहरी जीवन बोध के अंतर का कथ्य भी उजागर होता है, जो मार्कण्डेय की कहानियों के प्रतीकात्मक कथानक के यथार्थ जीवन से सशक्त रूप में संस्पर्शित होने का प्रमाण प्रस्तुत करता है।

इसी तरह उनकी 'साबुन' कहानी का भी उल्लेख किया जा सकता है। आलोच्य कहानी की पूरी कथा-संयोजना में साबुन से जुड़ा कार्य व्यापार एवं घटनाएँ कथानक का रूप लेकर उभरती हैं, जिसके कई प्रतीकात्मक अर्थ होते हैं। जिसे आलोच्य कहानी की इस आरंभिक –“कितनी छोटी-सी बात थी! उसने एक बट्टी साबुन ही तो लाने को कहा था। महीने भर हो रहे हैं राजेश, को आये”¹³– और अंत की घटना-स्थितियों–“बटुक ने अपने भीगे हुए कुरते की जेब से साबुन की एक छोटी-सी बट्टी निकाल कर आगे कर दी–”¹⁴ से भली-भाँति समझा जा सकता है। यहाँ 'साबुन' के कथानक से ग्रामीण किसान परिवार की बुनियादी जरूरतों की अभावग्रस्तता, ग्रामीण-शहरी जीवन मूल्य-बोध का अंतर, ग्रामीण पूर्व और नयी पीढ़ी का वैचारिक अंतर्द्वन्द्व, ग्रामीण शिक्षित पीढ़ी की निरुद्देश्यता, शहरी जीवन की चकाचौंध में पनपती भ्रष्टता तथा ग्रामीण स्त्री (माँ) का परिवार की अपरिहार्य कड़ी बनने का कथ्य स्पष्टतः प्रतीकित होता है, जो इस कहानी के कथानक को सशक्त एवं यथार्थ संस्पर्शित बनाता है। यही बात मार्कण्डेय की 'सोहगइला' कहानी के कथानक पर भी लागू होती है। जहाँ सोहगइला से जुड़ी घटनाएँ, कार्य-व्यापार एवं स्थितियाँ, जो इसके कथानक को रूप देती हैं, उसका प्रतीकात्मक संकेत ग्रामीण जीवन के यथार्थ को वास्तवायित करता है। जहाँ 'सोहगइला' में स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन में बाल-विवाह की कुप्रथा के बने रहने

के सच के भीतर से यह कथ्य भी प्रतीकित होता है कि सदियों से ग्रामीण समाज की स्त्रियाँ पितृसत्तात्मक संस्कारों को ढोने की रूढ़ि में अपने को न्योछावर करती रही हैं तथा स्वातंत्र्योत्तर पीढ़ी की नारी इस रूढ़ि को तोड़ने में आगे आती है। आलोच्य कहानी के आरंभ और अंत के दृश्य को देखा जाए उक्त बात स्पष्ट हो जाती है। कहानी के आरंभ का दृश्य (रनिया की विदाई का दृश्य) –“उसके दोनों निरीह, खुले हुए नन्हें-नन्हें हाथों को पकड़ कर उनमें सोहगइला दबाते, माँ की बरसाती नदी-सी आँखें किनारों को लाँधकर बह चली थीं, “इन्हें छोड़ना नहीं। कुल-परिवार की लाज का धियान रखना।” और माँ ने लाल जमीन पर छोटे-छोटे, पीले धब्बे वाली मोटी अँचरी-मनौरीदार सुहा के आँचल में टँके घुँघरुओं वाले किनारे को थोड़ा नीचे खींच दिया। घुँघट से दुलहिन का मुँह ढँक गया।”¹⁵ इसी तरह कहानी का यह अंतिम दृश्य (स्त्री के रूप में रनिया का अपने भविष्य को पहचानने का दृश्य–“... वह यह भूल गयी थी कि सोहगइला कब से उसके हाथ में नहीं है और व्यंग्य की एक तीखी हँसी उसके चेहरे पर बिखर गयीं,—“ मेरा बाप भी तो अपने बाप का अकेला ही बेटा था, और माँ भी मेरे घर बहू बन कर आयी थी। फिर माँ के कालिख में डूबे, रूखड़े हाथों की असंख्य काली रेखाओं के जाल में फँसी, उसकी आँखें, दूर बैठी बहू और सामने लुढ़के सोहगइला; दोनों को देखने में असमर्थ होती जा रही थीं, क्योंकि वह अब बच्ची नहीं रह गयी थी और सामने खड़े भविष्य को पहचान रही थी।”¹⁶

इसी तरह यहाँ मार्कण्डेय की कहानी ‘प्रलय और मनुष्य’ का जिक्र किया जा सकता है, जहाँ इसकी कथा-संयोजना में फैंटेसी कथा-शिल्प का अभिनव प्रयोग देखने को मिलता है। किंतु इस कहानी के फैंटेसी परक कथानक की सबसे बड़ी खूबी यह होती है कि यथार्थ जीवन कहीं तिरोहित नहीं होता है। ‘प्रलय और मनुष्य’ कहानी में प्रकृति और मनुष्य की संघर्ष कथा की फैंटेसी रची जाती है, जहाँ यह देखने को मिलता है कि विपरीत परिस्थितियाँ मनुष्य तथा मनुष्येतर प्राणी दोनों को घेरती हैं। किंतु, आदमी की अपराजेय क्षमता और शक्ति उसे संकट से उबरने की ओर प्रवृत्त करती है—“मेझुकी ने उसे संभाला और बिसूरती हुयी कहने लगी, कोई साथ नहीं देता, महारानी, देखो मेरे मेढ़क भी...” और वह फूट-फूट कर रोने लगी। “काश, मैंने सोइस का कहना माना होता, मेझुकी। आदमी अजेय है, उसे छोटा मानने वाला हमेशा मुँह की खाता है।”¹⁷ गौरतलब है कि आलोच्य कहानी में प्रलय की स्थिति में, सभी जीव-जंतुओं के साथ मनुष्य की संघर्ष चेष्टा रूपी क्रिया-व्यापारों से जिस कथानक का रूप उभरता है, वह स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन

के वास्तविक प्रश्न रूपी कथ्य को संबोधित करता है। जहाँ, स्वातंत्र्योत्तर राजनीतिक भ्रष्टता से पोषित, शोषण पर आधृत सामाजिक-आर्थिक वैषम्य पूर्ण ग्रामीण समाज के आम-जन के समक्ष उत्पन्न हुयी विपरीत परिस्थितियों से उनकी संघर्ष भावना का कथ्य कथानक को यथार्थपरक बनाये रखता है। इसी तरह इस संदर्भ में मार्कण्डेय की 'बातचीत' और 'शव-साधना' जैसी कहानियों का नाम लिया जा सकता है, जहाँ कथा-संयोजना के क्रम में पूर्व दीप्ति (फ्लैश बैक) कथा-शिल्प का प्रयोग होता है। किंतु, वहाँ भी कथानक वर्तमान की वास्तविकता को प्रतीकित और केन्द्रित किए हुए रहता है। चाहे, 'बातचीत' कहानी में जग्गी के बाप की गयादीन ठाकुर से दोस्ती का या 'शवसाधना' कहानी में बाबा का अपने साहब की करतूतों का अतीत-प्रसंग हों, दोनों उस चरित्र को आलोकित करते हैं, जो वर्तमान की वास्तविकता को उजागर करते हैं।

इस प्रकार देखा जाए तो कथा संयोजना के क्रम में मार्कण्डेय की कहानियों के कथानक संबंधी पहलू से जुड़ी कई बातें उभर कर आती हैं। पहली, मार्कण्डेय गढ़े हुए कथानक या कथानक के ह्रास के दौर में अनगढ़ जीवन स्थितियों तथा उसकी वास्तविकता से अपनी कहानियों के कथानक चुनने वाले साधक कहानीकार होते हैं। दूसरी, मार्कण्डेय अपनी कहानियों के कथानक को यथार्थ से संस्पर्शित और सशक्त रूप देते हैं। तीसरी, मार्कण्डेय का कहानीकार अपनी कहानियों के कथानक का विकास सहज तरीके से करता है। जहाँ आरंभ, मध्य और अंत की संगति बनी रहती है तथा रोचकता, कुतूहलता तथा संभवता का पहलू खंडित नहीं होता है। चौथी, उनका कहानीकार कथा-संयोजन के क्रम में प्रतीक, फैंटेसी तथा पूर्वदीप्ति (फ्लैशबैक) आदि कथा-शिल्प का सहारा लेते हुए जिस कथानक को रूप देता है, वह भी वास्तविक जीवन संदर्भों के कथ्य को उज्जीवित-प्रतीकित करने के प्रयोजन से होता है। सारतः कहा जाए तो मार्कण्डेय की कहानियों का कथानक यथार्थ जीवन से संस्पर्शित और सशक्त है, जो उनके कहानीकार को कथा-शिल्प के प्रति इस हेतु लचीला रुख रखने देता है ताकि यथार्थ जीवन कहीं तिरोहित न हो जाए तथा उसकी संभवता या विश्वसनीयता बनी रहे।

7.1.1.2 चरित्र

उल्लेखनीय है कि कथा-संयोजना के क्रम में कथानक के साथ जो दूसरा महत्वपूर्ण पहलू होता है, वह है चरित्र और चरित्र-विधान। कहने की आवश्यकता नहीं है कि कहानी का संबंध मनुष्य जीवन से ही है, इसलिए उसके केन्द्र में मनुष्य का चरित्र होता है। पात्र अथवा चरित्र-रहित कथा-कहानी की कल्पना संभव नहीं है। चरित्र के आधार पर ही कहानी विकसित होती है

इसलिए चरित्र अथवा पात्र को कहानी का मेरुदण्ड माना जाता है। ये कहानी के पात्र ही होते हैं जिससे कहानी के कार्य-व्यापार का प्रत्यक्षीकरण संभव होता है।

घटना या कार्य-व्यापार कथानक और पात्र में एक विशिष्ट संबंध होता है, जो किसी कहानी को आकार देता है। इस संदर्भ में तेज सिंह का निम्न मंतव्य उचित प्रकाश डालता है—“घटना- कथानक-पात्र में त्रियक संबंध होता है। कथानक-निर्माण, पात्रों के क्रियाकलाप से होता है तो घटनाएँ भी निरर्थक और स्वतः स्फूर्त नहीं होती, निश्चित तौर पर उनका उद्देश्य व्यक्ति चरित्रों के जीवन के सारतत्त्व को दिखाना होता है।”¹⁸ जिससे यह समझा जा सकता है कि कहानी में कथानक और चरित्र (पात्र) इस कदर एक-दूसरे से जुड़े होते हैं, कि उन्हें पृथक करना संभव नहीं होता है।

वैसे, किसी कहानी के कथा-संयोजन के क्रम में चरित्र या पात्र निर्माण या विधान की बात जहाँ आती है, तो इस प्रसंग में यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि इसका संबंध कहानीकार के जीवन-बोध से होता है। एक कहानीकार जिस रूप में रचना (कहानी) या उसके उद्देश्य को निर्धारित करता है, यह कहानी के चरित्र तथा चरित्र विधान से उजागर हो जाता है। अर्थात् यदि किसी कहानी का लक्ष्य शुद्ध मनोरंजन, उपदेश-प्रवचन या ‘कला कला के लिए’ का मूल्य-बोध है, तो वहाँ नकली, काल्पनिक या गढ़े हुए पात्र पर्याप्त होते हैं। किंतु, जहाँ कहानी (रचना) का लक्ष्य बदलते जीवन-संदर्भों का यथार्थ निरूपण है, वहाँ जीवंत या वास्तविक लगने वाले विश्वसनीय चरित्र या पात्र ही आवश्यक होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी भी कहानी के अंदर का चरित्र तथा उसका गठन कहानीकार के कहानी के प्रति होने वाले उसके निजी दृष्टिकोण को भी जाहिर करता है। इस संदर्भ में कहानीकार आलोचक श्रीकांत वर्मा की निम्न टिप्पणी का अवलोकन किया जा सकता है—“कहानी का संबंध अनुभव से है और चरित्र कहानीकार के अनुभव का ही प्रतिबिंब है... कहानी की गति और कहानी की नियति कहानी का चरित्र है। चरित्र का गठन ही, वास्तव में कहानी का गठन है।”¹⁹ जिससे कथा-संयोजना के अंतर्गत चरित्र का महत्त्व उजागर होता है।

वैसे इस संदर्भ में, यह उल्लेखनीय है कि मार्कण्डेय कहानी-लेखन को जीवन के एक व्यापक लक्ष्य से सम्पृक्त कर देखते हैं—“कहानी जीवन की कला है, उसके बाह्य और अंतर को बहुत दूर तक झुठलाना भी संभव नहीं है। इसलिए, जब हम नए जीवन सत्यों की बात करते हैं

और इसे कहानी के संदर्भ में ढूँढ़ते हैं तो यथार्थ जीवन के प्रकाश में ही उसका मानदण्ड भी ढूँढ़ना होगा।²⁰ जिससे मार्कण्डेय के कहानीकार का कहानी को यथार्थ-जीवन के आलोक में देखने की बात स्पष्ट होती है। यहाँ इस बात को कहने की आवश्यकता नहीं है कि मार्कण्डेय का कहानीकार, जो कहानी को यथार्थ जीवन-संदर्भ में देखने की वकालत करता है, वह निश्चित रूप से अपनी कहानियों के चरित्र या पात्र को उसी संदर्भ से चुनने की ओर प्रवृत्त रहता है। यहाँ मार्कण्डेय के निम्न कथन को पढ़ा जाए, जो वे कहानीकार बेचन शर्मा 'उग्र' की कहानियों के चरित्र के संबंध में कहते हैं, तो उक्त सच भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है—“उग्र हमेशा बने-बनाये पात्रों की ही खोज में रहे हैं। वे जीवन की भूमी में दाना चुनने का तकलीफदेह काम करना नहीं चाहते, क्योंकि इससे दृष्टि को भी काम में लाने की आवश्यकता पड़ती है, इसलिए मात्र संस्कारों के सहारे वे पात्रों की चुटिया पकड़ते फिरते हैं।”²¹ अर्थात् वे बने-बनाए, काल्पनिक चरित्रों के बजाए बदलते जीवन-संदर्भों के समानांतर जीवंत-गतिशील चरित्र की वकालत करते हैं, जो कहानी में अपनी विश्वसनीयता बनाये रखते हैं। जिसे प्रमाणस्वरूप उनकी ग्रामीण जीवन को वास्तवायित करने वाली कतिपय कहानियों के चरित्रों (स्त्री-पुरुष) -बाबा और चैतू अहीर ('गुलरा के बाबा'), घूरा ('घूरा'), सन्नो ('सात बच्चों की माँ') दुखना ('महुए का पेड़'), मंगी ('कल्याणमन'), हंसा ('हंसा जाई अकेला') रामजतन ('भूदान') नाथू और जोखू ('घुन'), पाँचू ('एक काला दायरा'), फऊदी दादा, बुझावन और मनरा ('बीच के लोग'), गनेसी ('गनेसी') को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि मार्कण्डेय की कहानियों का मूल क्षेत्र ग्रामीण जीवन रहा है। उन्होंने ग्रामीण जीवन संदर्भों और परिस्थितियों के गतिशील पात्रों (चरित्रों) को अपनी कहानियों में जगह प्रदान की है। यही नहीं, उनकी कहानियों के जो भी पुरुष अथवा नारी पात्र होते हैं, वे सम्मिलित रूप में, स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन को संश्लिष्ट रूप में दर्शाते हैं, जो उनकी कहानियों की कथा-संयोजना में कथानक और चरित्र की संगति और अन्विति को भी उजागर करते हैं।

वैसे, चरित्र या पात्र के स्वरूप की दृष्टि से अक्सर जिन दो कोटियों-व्यक्ति प्रतिनिधि पात्र और वर्ग प्रतिनिधि पात्र- की चर्चा होती है। उस दृष्टि से देखा जाए तो, उनकी कहानियों के चरित्र अपनी वर्गीय पहचान और विशेषताओं के साथ सम्पूर्णता में उज्जीवित होते हैं। जैसा कि यथार्थवादी साहित्य माँग करता है—“सच्चा 'यथार्थवाद' मनुष्य के चरित्र तथा क्रियाकलापों को अंतरंग और बहिरंग दायरों में विभाजित नहीं करता... उसकी क्षमता मनुष्य के ऐसे चित्रण में स्पष्ट होती है जिसमें उसका अन्तर्बाह्य एक संश्लिष्ट सम्पूर्णता बनकर उद्घाटित हुआ हो। 'यथार्थवाद' की यह

केन्द्रीय सौन्दर्यशास्त्रीय चिंता है कि मानव व्यक्तित्व को उसकी समग्रता में प्रत्यक्ष करे। यहाँ हम पुनः जार्ज लूकाच को उद्धृत करना चाहेंगे जिनके अनुसार-‘टाइप’ या प्रतिनिधि पात्र में सामान्य तथा विशेष दोनों दूध-पानी की तरह घुले-मिले रहते हैं।²² इस तरह देखा जाए तो एक सच्चे यथार्थवादी कहानीकार के नाते उनकी कहानियों के व्यक्ति और प्रतिनिधि दोनों प्रकार के पात्र एक सम्पूर्ण चरित्र के रूप में स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन संदर्भों की वास्तविकता को प्रतीकित करते हैं। तभी डॉ.सुरेश सिन्हा मार्कण्डेय की कहानियों के पात्रों के संबंध में यह मंतव्य करते हैं—“मार्कण्डेय की कहानियों के पात्र जातीय हैं। उन्होंने जिस वर्गों से अपने पात्रों को लिया है उसी वर्ग की सारी विशेषताएँ उनमें हैं। इसलिए वे अत्यंत यथार्थ एवं स्वाभाविक प्रतीत होते हैं। पर उनकी जातीयता के बावजूद मार्कण्डेय ने अत्यंत कलात्मक कौशल से उनके व्यक्ति स्वरूप की रक्षा की है।²³ यहाँ प्रमाणस्वरूप उनकी कुछेक कहानियों का जिक्र किया जा सकता है।

इस संबंध में सबसे पहले उनकी ‘गुलरा के बाबा’ कहानी की चर्चा की जा सकती है। इस कहानी में बाबा का चरित्र ग्रामीण उच्च वर्ग (सामंत) का प्रतिनिधित्व करता है, जिसका अंदाजा उस प्रसंग में लग जाता है, जब बाबा की बात चैतू सुनने को मना कर देता है—“सलाम ठाकुर!” “खुश रहो चैतू; लेकिन तुम यह क्या कर रहे हो?” “सरपत काट रहे हैं ठाकुर।” “अच्छा कल से मत काटना।” “ऐसे ही काटूंगा।” और चैतू लटक कर हँसिया चलाने लगा।... “ मैं तुम्हारी बातें समझ रहा हूँ। अपने दो-एक संगी साथियों और बूढ़-पुरनियों को भी बुलाये आना—यहीं; यदि तुम मेरा गट्टा टेढ़ा कर दोगे, तो मैं कभी जबान नहीं खोलूँगा और यदि नहीं, तो तुम कल से यहाँ दिखाई न पड़ना।²⁴ यहाँ बाबा के चरित्र में एक सामंती बोध स्पष्ट लक्ष्य होता है, जहाँ वे अपने से कम हैसियत रखने वाले ग्रामीण जन की अपनी बात की नाफरमानी बर्दास्त नहीं कर पाते हैं। इस कारण ही वे चैतू को उसकी पूरी जमात के साथ परास्त करने हेतु उद्धत हो जाते हैं। किंतु, इन सबके बावजूद बाबा के चरित्र में उनकी वर्गीय पहचान से इतर कुछ विशेषताएँ होती हैं जिससे बाबा का चरित्र जीवंत और गतिशील होकर उभरता है। जिसकी विश्वसनीयता खंडित नहीं होती है। जिसे आलोच्य कहानी के उस प्रसंग में लक्ष्य किया जाता है, जब गाँव में चैतू की टाँग टूटने की खबर फैलती है। जहाँ, बाबा की उच्चवर्गीय जमात के अन्य सामंत चैतू के प्रति हिंसात्मक रूख रखते हैं, वहीं बाबा उसके प्रति संवेदनशील नज़र आते हैं—“अरे गरूर का नतीजा यही होता है। गट्टा टेढ़ा करने आया था न ठाकुर का। अब इन कमीनों की हिम्मत इतनी हो गयी?” देवी सिंह

ने मुँह बनाते हुए कहा। बाबा बिगड़ गये, “तुम्हें जिन्दगी भर तमीज नहीं होगी,... थाली परसी रही; पर बाबा रुके नहीं।... और दौड़ कर मन्ना साव की दुकान पर पहुँचे—“अम्माहल्दी चोट मुसब्बर, सेतखरी”— पुड़िया बँध गयी। बाबा ले कर दौड़े... चैतू का घर आ गया। बाबा थक कर चूर हो गये थे।... बाबा ने हाथ लगाया—“थोड़ा तेल तो लाओ और यह दवाई जरा पीस लेना।”²⁵ जिससे यह जाहिर होता है कि आलोच्य कहानी की कथा-संयोजना में बाबा का चरित्र वर्ग प्रतिनिधि और व्यक्ति प्रतिनिधि चरित्र की विशेषताओं से अंतर्गुम्फित है, जो उसे एक जीवंत और गतिशील चरित्र का रूप देता है।

इसी तरह मार्कण्डेय की ‘कल्याणमन’ कहानी की भी चर्चा की जा सकती है। जिसकी प्रमुख पात्रा मंगी ग्रामीण जीवन के उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करती है जिसके पास वैभव-सम्पदा के नाम पर उसका केवल श्रम होता है, जो ग्रामीण समाज में शोषित-दलित वर्ग कहलाता है। प्रस्तुत कहानी की कथा-संयोजना में मंगी का चरित्र उसकी वर्गीय पहचान और विशेषताओं को दर्शाता नजर आता है। शोषण पर आधारित, सामाजिक-आर्थिक वैषम्य से पूर्ण ग्रामीण समाज में मंगी अपनी स्थिति को पहचानती है। उसे इस बात का ज्ञान रहता है कि ग्रामीण जमींदार की गिद्ध-दृष्टि दूसरों की जमीन पर सदैव लगी रहती है—“पनारू का वाक्य पूरा भी नहीं हुआ था कि मंगी के झापड़ों से उसकी कनपटियाँ झनझना उठीं। “यहीं सीखने बैठा रहता है यहाँ, जानता नहीं कि ये लोग जमीन के लिए, आदमी की गरदन भी काट सकते हैं।”²⁶ उसे इस बात का बोध रहता है कि सुविधा-सम्पन्न वर्ग मेहनतकश वर्ग पर ही जीता है। यदि वह श्रम करना छोड़ दे तो दिक्कत उस वर्ग को ज्यादा होगी जिसे दूसरों के श्रम पर जीने की आदत पड़ गयी है—“मंगी का क्या डर! कहती “ कोई सेंट का खाती हूँ जो लात-गारी सहूँ। रात-दिन छाती पर बज्जर जैसा गगरा-बाल्टी ढोती हूँ। बन कर दूँ तो सरने लगे रानी लोग।”²⁷ अर्थात् मंगी का चरित्र ग्रामीण मेहनतकश वर्ग की तमाम विशेषताओं से युक्त होता है। किंतु, इसके बावजूद भी मंगी के चरित्र में व्यक्ति चरित्र की विशेषताएँ भी मिलती हैं। जिसे आलोच्य कहानी के उस प्रसंग में देखा जाता है, जब मंगी उहापोहावस्था में होती है। जब वह बंगा की नशाखोरी और बेटे पनारू के दायित्व भार को झिटक कर अपने अंदर की औरत, केवल अपनी सुध लेने को सोचती है—“बच्चे की भूख, अपनी परेशानी और बंगा की नशाखारी, उसे लगा जैसे कोई भूत ठहाका लगाकर बत्तीसों दाँत बाये खड़ा हो। जैसे किसी ने उसके पेट में कस कर एंडी मार दी हो। उसने झटके से दरवाजा बन्द कर दिया

और भूखी सियारिन की तरह तिलमिला कर बच्चे की तरफ झपटी-क्यों न दबा दूँ इसका गरदन और इस नसेड़ी को लात मर कर दूसरे घर बैठ जाऊँ।”²⁸ अतः यहाँ मंगी के चरित्र में व्यक्ति और वर्ग प्रतिनिधि चरित्र की प्रवृत्तियाँ व्याप्त रहने की बात भलीभाँति उजागर होती हैं।

इस संदर्भ में, मार्कण्डेय की एक अन्य कहानी ‘घुन’ का भी उल्लेख किया जा सकता है। इस कहानी का पात्र (चरित्र) नाथू स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन के उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है, जिसे दलित सर्वहारा वर्ग कहा जाता है, जो गाँव के किसानी-कर्म में अपनी तमाम अभावग्रस्तता और बेवशी के साथ मरता-खपता जीवन की लड़ाई लड़ रहा होता है। जिसे अपनी हैसियत का संज्ञान भी बराबर रहता है। उस हैसियत की, जहाँ गाँव की सवर्ण-सामंती मानसिकता उसे अछूत और हेय समझती है—“ नाथू कंधे पर हल लिए सँझलौके घर लौटा तो देखा जोखू महाजन की छोटी बिटिया बजड़ी की मोटी लिट्टी पर नून रखे मजे में खा रही है और उसकी मेहरारू उसके लिए लोट में पानी भरे खड़ी है।— कैसा अनरथ कर रही है, भगवान! ... एक तो वैसे गाँव में रहना मुहाल है, दूसरे, लोग यही कहेंगे कि चमार-सियार की जात भले घर के लड़कों को अपनी रोटी खिला कर भंडासराध कर रहा है!”²⁹ जिससे स्पष्टतः नाथू के वर्ग प्रतिनिधि चरित्र की स्थिति जाहिर होती है। किंतु, इसके बावजूद भी उसका चरित्र व्यक्ति-विशेष को अपने अंतर्गत समाहित किए हुए रहता है। जिसे आलोच्य कहानी के उस प्रसंग में लक्ष्य किया जाता है जब समूचा गाँव अन्न-संकट की आसन्न परिस्थिति से गुजर रहा होता है। जब गाँव का महाजन (जोखू) छिपाकर रखे अपने अनाज में लगे घुन को भाटने का प्रलोभन नाथू (कृषक वर्ग का प्रतिनिधि) को देता है। उस वक्त नाथू का चरित्र अपने वर्ग हितों से अलग स्वयं (व्यक्ति-विशेष) के बारे में सोचता हुआ नज़र आता है—“नाथू फिर गमछे का सिराहना बनाकर उसी झिलंगा में धँस गया। रह-रह कर उसे अपनी नयी मजूरी का ध्यान हो आता था- देखो ईश्वर की माया, कि खेत-खलियान उठाते ही भगवान ने महाजन के गाड़े में घुन लगा दिया। अब चलो, धीरे-धीरे पन्द्रह रोज में गाड़े पाटो और सेंट की मजूरी घर लाओ! अन्न में घुन लगा तो क्या हुआ? उसमें हमारा तुम्हारा क्या बिगड़ा?”³⁰ इसी तरह मार्कण्डेय की कई अन्य कहानियों—‘घूरा’, ‘जूते’, ‘दौने की पत्तियाँ’, ‘चाँद का टुकड़ा’, ‘भूदान’, ‘दाना-भूसा’, ‘बीच के लोग’, आदि के पात्रों में व्यक्ति और वर्ग प्रतिनिधि चरित्रों की प्रवृत्तियों का मेल दिखायी देता है—जो कहानी की कथा-संयोजना में चरित्र को जीवंत, गतिशील एवं विश्वसनीय रूप लिए हुए दर्शाता है।

मार्कण्डेय की कहानियों के चरित्र-चित्रण की विधि की बात की जाए तो, इस संबंध में अक्सर जिन दो विधियों-विश्लेषणात्मक और नाटकीय की चर्चा होती है, उन दोनों का सार्थक प्रयोग मार्कण्डेय अपने चरित्र को खोलने में करते हैं। वे कई जगह स्वयं ही अपने चरित्रों के गुण-दोषों का विश्लेषण करते हुए उसे चित्रित करने का प्रयास करते हैं- जिसे उनकी कुछेक कहानियों के उल्लेख से समझा जा सकता है। सबसे पहले उनकी 'मुंशी जी' कहानी का जिक्र किया जाए- "चार दिन हो गए मुंशीजी बुखार से नहीं उठे। लड़िका-परानी के नाम पर एक बीबी ही तो रह गयी है बेचारे के पास और वह भी दस दिन से बीमार है।"³¹ इसी तरह उनकी कतिपय अन्य कहानियों का भी देखा जा सकता है। 'सात बच्चों की माँ' - "सत्रो..... सात बच्चों की माँ..... मैं तो उसे सात-आठ बरस से जानता हूँ। डोले में उठ कर आयी थी। गरीब की लड़की थी तो क्या हुआ दिल तो गरीब का नहीं रहा होगा।"³² 'कहानी के लिए नारी पात्र चाहिए' - "जमुना बारिन है। अभी गाँव में आयी। उसकी पूर्व कथा भी है कि उसने सात लोगों से अब तक शादियाँ की और सातों को छोड़ दिया।"³³ 'महुए का पेड़' - "दुखना को गाँव में कोई नहीं छेड़ता।...दुखना के पास लिपी-पुती साफ सुथरी झोपड़ी, दो एक बरतन, मिट्टी की गगरी और झोपड़ी के सामने हहरता हुआ एक महुए का पेड़ है। यही उसकी कुल सम्पत्ति है।"³⁴ 'मन के मोड़' - "रामशरण के पिता तीन भाई थे। तीनों के एक-एक लड़का था। रामशरण सबसे बड़े भाई का उम्र में सबसे बड़ा लड़का था, जीतू सबसे छोटे भाई का इकलौता। जीतू जब माँ की पेट में आया, तभी उसके बाप की मृत्यु हो गयी और जब जीतू तीन महीने का हुआ, तो उसकी माँ भी चल बसी। रामशरण के बाप ने जीतू को बड़े स्नेह से पाला था और मरते समय जीतू का हाथ रामशरण के हाथों में देकर कहा था, 'यह मेरा धरोहर है बेटा!'"³⁵ 'हंसा जाई अकेला' - "उसे लोग हंसा कहते हैं, काला-चिट्ठा बहुत ही तगड़ा आदमी है। उसके भारी चेहरे पर मटर-सी आँखें और आलू-सी नाक उसके व्यक्तित्व के विस्तार को बहुत सीमित कर देती है... उसे रतौंधी का रोग है।"³⁶ जिससे यह भली-भाँति जाहिर होता है कि मार्कण्डेय के अंदर का किस्सागों अपनी कहानियों के चरित्रों को कथानक के विकास हेतु खोलने को बार-बार सचेष्ट होता है।

गौरतलब है कि मार्कण्डेय का कहानीकार अक्सर अपनी कहानियों की कथा-संयोजना में चरित्र का चित्रण नाटकीय विधि के अनुरूप कभी, बाह्य परिस्थितियों के मध्य पात्रों के संवादों ओर क्रिया-कलापों से, तो कभी पात्रों के मानसिक अंतर्द्वन्द्व से जुड़ी भूमिकाओं के जरिये, जो चरित्र को

मनोविज्ञान सम्मत भी बनाता है, करने का कलात्मक प्रयास करता है। जिसे उनकी कुछेक कहानियों के उल्लेख से भली-भाँति समझा जा सकता है। सबसे पहले उनकी 'घूरा' कहानी की बात की जाए। यहाँ गाँव वालों की आपसी बातचीत, जो गाँव के दालान या मड़ई में अक्सर हुआ करती है, जो गाँव के जीवन की एक सांस्कृतिक पहचान है, उस बातचीत में घूरा के जीवन की अभावग्रस्तता, उसका रूप रंग, उसका अतीत और वर्तमान की अवस्था का अंतर, सब कुछ जैसे न सिर्फ चरित्र को प्रकाशित करता है, बल्कि कहानी के कथानक को भी पर्याप्त गति प्रदान करता है—“घूरा की विपत का कोई और नहीं। गाँव के बीच में घर ठहरा। ठाकुर बाम्हन होती तो दूसरी बात थी,... “सांवला, चिकना रंग, बड़ी-बड़ी आँखें, और जामुन जैसे काले बाल, दाँत कुछ बाहर को निकले हुए, और जबान की पतली, मन की चुलबुल, बड़ी कद्दावर औरत थी भैया!” सामू चौधरी हुक्के का धुँआ छोड़ते हुए कहने लगे।... “घूरा’ उस जमाने की मेहरारू है भैया! जब जवाहिर, भगेलू के घर में धन का जोर नहीं था। सारा गाँव हारे-गाढ़े उनके यहाँ हाथ फैलाता था।... गजब हँसती थी- बड़ी-बड़ी आँखें फैल कर कान तक पहुँच जाती थी; और दाँत? कुछ न पूछो। पान की लाली में बारहों घंटों डूबे रहते।”³⁷

मार्कण्डेय की 'नौ सौ रुपये और एक ऊँट दाना' के पात्र बुचरू और बच्चन के संवाद को देखा जाए तो बुचरू के चरित्र में उस ग्रामीण भोले आमजन की तस्वीर देखी जा सकती है, जो राजनीति को जिस आशा भरी निगाह से देखता था वह आशा एक घोर अवसाद का रूप ले लेती है—“सहसा खयाल आया, ऐस कैसे काम चलेगा? तो बुचरू से हाल-चाल पूछने लगा।—“हाल-चाल के दिन लद” गये बच्चन, अब तो जीव जी रहा है।... मैंने कहा कुछ राजनीति की बताओ दादा!” “राजनेत तो गन्ही महतमा के साथ चली गयी बच्चन!... जिस कुरसी पर बैठ गये -बस वह उनकी हो गयी। अब तो कुरसी की नेति है।... “ हो तो रहा है बहुत कुछ दादा” मैंने उत्सुकता से कहा। “क्या हो रहा है। धरम के नाव पर, जाति के नाव पर बाटे उगहात है। ठाकुर के ठाकुर ब्राह्मन के ब्राह्मन, कहाँ गयी गरीबी? कहाँ गया छुआ-छूत...? अब विचार नहीं रहा, बस बोट रह गया है।”³⁸ जिससे बुचरू के चरित्र पर प्रकाश पड़ने के साथ कहानी का कथ्य भी गतिमान होता है। इसी तरह उनकी एक अन्य कहानी 'चाँद का टुकड़ा' के मजदूर और ठेकेदार पात्र के बीच का संवाद लक्ष्य किया जा सकता है, जहाँ ठेकेदार के चरित्र के जरिये शोषक वर्ग की अमानवीयता तो मजदूरों के द्वारा शोषित वर्ग की आपसी सहानुभूति तथा उनकी बेवशी का कथ्य आलोकित होता

है—“चौथे दिन जोर का पानी बरस गया। ज़मीन पानी में डूब गयी। कई दिन के लिए काम बंद हो गया। मजदूरों ने अपना झुत्सा-फरसा सम्हाला और चले गये। जो बचे थे, उन्होंने ठेकेदार से कहा, ‘साहेब, सनोहर भूखों मर रहा है, उसकी चार दिन की मजूरी...।’ “हफ्ता पूरा भी नहीं हुआ” ठेकेदार बिगड़ कर बोला। “साहेब, हम कमकर हैं, बिना खाये दिन भर फरसा चलाएँगे तो कैसे जान बचेगी!” “बेकार की बात है। वह बीमार होगा। भूख से कोई कैसे मर सकता है?”³⁹

इसी क्रम में मार्कण्डेय की उन कुछेक कहानियों का भी उल्लेख किया जा सकता है, जहाँ पात्रों के क्रिया-कलापों के जरिए चरित्रों को खोलने तथा कथानक को गति देने का कार्य होता है। सबसे पहले उनकी ‘हंसा जाई अकेला’ कहानी की बात की जाए। आलोच्य कहानी के उस प्रसंग में, जब हंसा के घर पकवान बनने की रात होती है, उस रात घर की भंडरिया से घी निकालने का हंसा और सुशीला का जो क्रियाकलाप है, वह दोनों के अकेलेपन तथा स्त्री-पुरुष के रूप में दोनों के अधूरे व्यक्तित्व को प्रकाशित करता है—“...वह सोच ही रहा था कि घी की माँग होती है। हंसा उठता है पर चारपाई से ठोकर खाकर गिर पड़ता है। सुशीला जी दौड़ कर उसे उठाती है। हंसा मारे लाज के डूब जाता है।... कहार कहता है, हंसा दादा को रतौन्ही है, रतौन्ही।” “रतौन्ही ! तो बताओ, कहाँ है घी? मैं चलती हूँ, साथ।” ...दोनों आँगन पार करते बूँदों में भींगते हैं। पीछे से आवाज आती है, लालटेन दूँ?... घर की अँधेरी भंडरिया। दोनों भटकते हैं। हंसा कुछ बताता है। सुशीला जी कुछ सुनती है। आँख कुछ देखती है। हाथ कुछ टटोलते हैं। बहरहाल, पता नहीं कहाँ क्या है? अँधेरे में जैसे आँख, तैसे बेआँख। दोनों को सहारा चाहिए।⁴⁰ इसी भाँति उनकी ‘भूदान’ कहानी के उस प्रसंग का अवलोकन किया जा सकता है जब रामजतन खेत से तेजी से घर लौट रहा होता है। उस वक्त उसके क्रियाकलाप से ग्रामीण चरित्र में रचे-बसे शुभ-अशुभ के धार्मिक कुसंस्कार तथा भावी आशा को लेकर फिक्रमंद बने रहने की जो मनोदशा है, वह स्पष्ट प्रकाशित होती है—“बनसत्ती के लहुरे चौरा पर रामजतन के पाँव अनजाने ठमक गये, “जै बनसत्ती माई, तुम्हें कड़ाही चढ़ाएँगे माई, गरीब पर दया करो महारानी। जसवंती तुम्हें पियरी चढ़ाना न भूलेगी माई, इस साल भूल-चूक छिमा करो माई।” ... पर उसी समय एक लोमड़ी खुर-खुर कर सत्ती के चौरे से निकली और पल भर की उसके मुँह की ओर देखकर बायें से रास्ता काटती हुयी निकल गयी तो उसके मन में एक अशुभ की कल्पना जाग उठी। एक मोटी-सी गाली उसकी जबान पर आ गयी और वह आगे चल पड़ा।⁴¹ इसी तरह उनकी ‘शव-साधना’ कहानी का निम्न

क्रिया-कलाप दृष्टव्य है। जहाँ बाबा के चरित्र में व्याप्त ढोंग उनके ताम-झाम तथा चमत्कार रचने की खोखली प्रक्रिया में लक्ष्य किया जाता है—“ बाबा ने कंकड़ की नन्हीं चिलम को हाथ की अँगुलियों और होठों पर लपटे कर ऐसा खींचा कि कंकड़ दीये की लौ की तरह जल उठा।...फिर सँड़से को उठा कर धूनी की आग में डाल दिया। जब सँड़सा लाल हो गया, तो उन्होंने उसे उठाया और अपनी पिंडलियों के रोएँ जलाने लगे। फिर एकाएक चीख पड़े”, बम् भोले! बम भोले!”... बाबा ने चिमटे को ऊपर ताना और कस कर झबरा की पीठ पर मारा। उधर कुत्ता पें...पें... करता भागा और इधर बाबा पद्मासन लगाकर अकड़ गये। घेंचू हाथ जोड़ कर, “महाराज-महाराज’ कहता हुआ काँपने लगा।”⁴²

इस संदर्भ में, मार्कण्डेय की उन कुछेक कहानियों का भी उल्लेख किया जा सकता है, जहाँ वे पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व से जुड़ी भूमिकाओं के जरिए मनोवैज्ञानिक तरीके से चरित्र को प्रकाशित करने का कलात्मक प्रयास करते हैं। सबसे पहले उनकी ‘साबुन’ कहानी की बात की जाए। इस कहानी की ‘माँ’ का चरित्र उस ग्रामीण स्त्री-छवि को दर्शाता है, जो पति-पुत्र के बीच; पुरानी और नयी पीढ़ी के मध्य एक सेतु जैसी है, जो इस कड़ी को जोड़े रखने के प्रयास के अंतर्द्वन्द्व से सदा गुजरती है—“माँ के सीने में, जैसे किसी ने कस कर घूँसा मार दिया हो।... उसका शरीर पसीने से तर हो चला था। उसने ऊपर देखा, बखरी के कोने-कोने में गहरी उदासी छायी हुयी थी। कहीं एकाध गौरेया के जोड़े चूँ-चूँ कर देते थे और आसमान के एक कोने से बादल का गहरा काला पहाड़ मुँह बाये उठा आ रहा था। उसके मन में भय रेंग आया... ये घर उखाड़ देंगे मेरा।”⁴³ इसी तरह उनकी ‘हरामी के बच्चे’ कहानी का वह प्रसंग, जब सरजू के चरित्र का अंतर्द्वन्द्व अपने तथा अपने जैसे लोगों के ऊपर होने वाले अन्याय-शोषण के खिलाफ आवाज़ उठाने को लेकर होता है, उससे ग्रामीण शोषित चरित्रों का अपने समक्ष व्याप्त परिस्थितियों के प्रति असंतोष भाव उजागर होता है— “मैं सोचने लगा, कैसी हालत है हमारी। क्या हम, मर-मार नहीं सकते? क्या हम अन्याय का विरोध... और मुझे बनवारी के कोड़े और साहब के झापड़ याद आ गये।... उफ़ कितना भयानक था, सारा दृश्य।”⁴⁴

यही नहीं, मार्कण्डेय अपनी कहानियों में कहीं-कहीं चरित्रों को खोलने हेतु स्वप्न से जुड़ी भूमिकाओं का भी सहारा लेते हैं। यहाँ प्रमाणस्वरूप ‘जूते’ कहानी का जिक्र किया जा सकता है। यहाँ आलोच्य कहानी के मनोहर के सपने का प्रसंग अवलोकनीय है। जिसके जरिए एक ग्रामीण

अभावग्रस्त मजदूर बालक की जूते (इच्छित वस्तु) से जुड़ी चिंता, घबराहट और उद्विग्नता के मनोवैज्ञानिक भावों के साथ उस डर को भी लक्ष्य किया जा सकता है, जो शोषण पर आधृत वैषम्यमूलक समाज का चरित्र है—“मनोहर भी निश्चेष्ट, निष्क्रिय-सी बच्ची के पाँवों के पास जूते और चारपाई की पाटी से सटता गया। फिर पलास के पत्ते... धूल की जलन... माघ की ठारी... रामू का चरमराता हुआ जूता और मालिक की रेंड़ी के तेल में डूबा हुआ चमरौंधा... “नहीं-नहीं।” वह बड़बड़ाने लगा, “मैं ऐसे ही लाल-लाल जूते लूँगा लेकिन धूल में कंकड़ पर, ओस में, कीचड़ में नहीं पहनूँगा।... कोई चुरा ले जायेगा... चुरा...।”⁴⁵ इसी भाँति ‘दाना-भूसा’ कहानी का पात्र बंसन के स्वप्न का प्रसंग भी देखा जा सकता है। इस कहानी में, बंसन के चरित्र के जरिए ग्रामीण सर्वहारा शोषित वर्ग के भीतर पैठे सामाजिक-आर्थिक विषमता का गहरा क्षोभ प्रकाशित होता है—“बंसन सब कुछ समझ कर भी अपनी टूटी चारपाई में बैठे, पल भर को आँखें मूद कर पड़ गया।... वह उड़ता रहा, उड़ता रहा और धीरे-धीरे ऐसी जगह पहुँच गया, जहाँ रोटियों का एक बहुत बड़ा ढेर लगा हुआ था, इतना बड़ा कि कई बाँस की सीढ़ियों लगा कर भी उसके ऊपरी हिस्से को छूना मुश्किल था और लोगों की एक बहुत बड़ी भीड़ उसे मनमाना लूट रही थी।”⁴⁶ इस प्रकार देखा जाए तो मार्कण्डेय अपनी कहानियों में चरित्र-चित्रण की दोनों विधियों विश्लेषणात्मक और नाटकीय का कुशल प्रयोग करते हैं। कभी उनके भीतर का किस्सागों उत्साहित होकर चरित्रों का स्वयं ही विश्लेषण करने लगता है, तो कहीं, बाह्य परिस्थितियों के मध्य पात्रों के संवादों, क्रियाकलापों, अंतर्द्वन्द्वों और स्वप्नों से जुड़ी भूमिकाओं के जरिये कहानीकार चरित्रों को उज्जीवित करने का प्रयास करता है। कहना न होगा कि उनका उक्त प्रयास ही चरित्र-चित्रण को ज्यादा कलात्मक बनाता है।

इस तरह उनकी कहानियों की कथा-संयोजना के अंतर्गत चरित्र संबंधी जो बातें निकलकर आती हैं, वे कुछ इस प्रकार हैं। मार्कण्डेय का यथार्थवादी कहानीकार वास्तविक जीवन के आलोक में कहानी को देखने के कारण कल्पना से चरित्र गढ़ने के बजाय अपने आस-पास बदल रहे जीवन-संदर्भों से पात्र को चुनता है। यही वजह है कि उनके पात्र जीवंत, गतिशील और विश्वसनीय लगते हैं। उनकी कहानियों के चरित्र (स्त्री-पुरुष दोनों) सम्मिलित रूप में विश्वसनीयता के साथ कथ्य को आलोकित करते हैं। उनकी कहानियों के पात्र वर्ग प्रतिनिधि चरित्र होने के साथ व्यक्ति प्रतिनिधि विशेषता को अपने में समाहित किए हुए एक यथार्थवादी साहित्य की माँग के अनुरूप

चरित्र को उसके मनुष्य की समग्रता में प्रस्तुत करते हैं।

सारतः कहा जाए तो, मार्कण्डेय की कथा-संयोजना में कथानक और चरित्र एक विशिष्ट संबंध और संगति में अंतर्गुम्फित रहते हैं। जिसे पृथक रूप में समझने के बजाय उसके उस एकान्वित रूप को समझना समीचीन प्रतीत होता है, जो कथ्य का यथार्थ चित्रण करना अपना लक्ष्य दर्शाता है। कहना न होगा कि यह यथार्थवादी कथा-शिल्प की ही एक पहचान है।

7.1.2 भाषा-संयोजना

साहित्य की किसी एक रचना को यदि प्रथम दृष्टि में देखा जाए तो उसके भाव-विचार, अनुभव-अनुभूति या कथा-कथ्य का कोई महत्त्व उसकी भाषा-संयोजना के बिना निर्धारित नहीं होता है, क्योंकि एक रचनाकार (कहानीकार) 'भाषा' का आश्रय लेकर ही एक रचना को रूप देता है, तथा पाठक से भी अपना अंतरंग संबंध कायम करता है। दरअसल किसी भी कहानी का भाषा-संयोजना पक्ष, उस कहानी को आकर्षक रूप तो जरूर देता है, पर उसकी कलात्मकता का दारोमदार सम्पूर्णतः इसी बात पर निर्भर नहीं करता है, बल्कि वह तो उस कहानी में सिरजे गए कहानीकार के जीवन-बोध के साथ भाषा के सहमेल रूपी संयोजन पर आश्रित होता है। कहने की बात नहीं है कि उक्त कुशल संयोजन तभी होता है जब एक कहानीकार का यथार्थवादी दृष्टिकोण सामने आता है। जिसे कहानीकार मार्कण्डेय के निम्न मंतव्य से समझा जा सकता है—“बोली के शब्दों के बेमेल पैबंद लगा कर भाषा के जोर पर कोई किसान की कठोर जिंदगी का संवेद्य धरातल नहीं छू सकता। उसके आदर्शों को देख पाने के लिए लेखक में पैनी दृष्टि और अनुभव की गहराई के साथ उसकी सामाजिक परिस्थितियों को सही दृष्टि से देखने की क्षमता भी आवश्यक है।”⁴⁷ अर्थात्, मार्कण्डेय यहाँ यह कहना चाहते हैं कि भाषा की कृत्रिमता के से कोई कहानीकार जीवन का सशक्त यथार्थ निरूपित नहीं कर सकता, इसके लिए कहानीकार की वह अंतरंग पैठ जरूरी है, जो उसके अपने आस-पास के जीवन संदर्भों की प्रत्यक्ष सम्पृक्ति से आती है। ग्रामीण जीवन से मार्कण्डेय की सम्पृक्ति उनके कहानीकार के ग्रामीण कथानक की महत्ता प्रकाशन के क्रम में, ग्रामीण यथार्थ जीवन से जीवंत पात्रों को चुनने के क्रम में, तथा लोक-जीवन से उस जीवंत भाषा को ग्रहण करने के क्रम में साफ उजागर होती है। मार्कण्डेय का कहानीकार भाषा-संयोजन में अपने उसी दृष्टिकोण को (यथार्थवादी शिल्प) बनाये रखता है, जो कहानी के कथानक और चरित्र के संबंध में होता है।

वैसे, मार्कण्डेय की कहानियों की भाषा-संयोजन पर बात की जाए तो यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि उन्होंने ग्रामीण जीवन के कथ्य और उसके चरित्र को स्वाभाविक और विश्वसनीय रूप में प्रस्तुत करने हेतु ग्रामीण जन-भावनाओं को व्यक्त करने वाली सहज सरल जन-जीवन के बीच-की समर्थ भाषा का प्रयोग किया है। इसी कारण उनकी भाषा-संयोजना में पात्रानुकूलता, ग्रामीण शब्द-ध्वनि प्रयोगों, ग्रामीण जीवन के मुहावरों, लोकोक्तियों और उपमानों के सहज व्यवहारों, आदि पहलुओं का बराबर ध्यान रखा गया है। यहाँ उनकी कहानियों के साक्ष्य को रखते हुए उक्त तथ्य की विवेचना की जा सकती है।

7.1.2.1 पात्रानुकूलता

देखा जाए तो किसी भी कहानी में भाषा का दोहरा रचाव बराबर लक्ष्य होता है। एक वह, जो रचनाकार (कहानीकार) बोलता और लिखता है दूसरा वह, जिसमें रचनाकार के पात्र बोलते हैं। हालांकि पात्र वाली भाषा भी कहानीकार की भाषा होती है। इसलिए, कहानीकार को अपनी भाषा के स्तर पर दोहरी भूमिका निभानी पड़ती है। उसे सावधानी पूर्वक कौशल का परिचय देना पड़ता है।

यहाँ मार्कण्डेय की एक-दो कहानी का उदाहरण देते हुए उक्त कौशल को स्पष्ट किया जा सकता है। सबसे पहले उनकी 'गुलरा के बाबा' कहानी का जिक्र किया जाए, जिसकी भाषा-संयोजना मार्कण्डेय को स्वातंत्र्योत्तर विशेष कहानीकार की पंक्ति में ला देती है। यहाँ निम्न उद्धरण को देखा जाए—“कवन है रे वह सरपत काट रहा?” बाबा ने अमिलहवा के नीचे खड़े होकर अपनी लाठी कंधे से उतारते हुए कहा। आवाज़ सारी गुलरा में गूँज गयी। बड़ी गंभीर और बड़ी बुलंद आवाज़ थी वह; अनजान आदमी तो एक बार डर जाए और चिरई-चुरमन भी पेड़ों पर से उड़ पड़े।”⁴⁸ यहाँ 'कवन हे रे...' और 'बाबा ने अमिलहवा...' में, कहानीकार के भाषा के स्तर पर दोहरी भूमिका के कुशलता पूर्वक निभाने की बात को समझा जा सकता है। हालांकि दोनों पदबंधों की भाषा कहानीकार की है, किंतु एक में पात्र की स्वाभाविकता और दूसरे में कहानीकार की, देखते ही बनती है। और उस पर भी कहानीकार वाले पदबंध में 'अमिलहवा' और 'चिरई-चुरमुन' जैसे स्थानीय शब्दों की छौंक, कहानीकार की अपने आस-पास के जीवन-संदर्भों से गहरी सम्पृक्ति को सूचित करती है। एक अन्य उदाहरण 'कल्यानमन' कहानी का, जहाँ कहानीकार के भाषा के दोहरे रचाव-पात्र और लेखक-की कुशलता का प्रमाण मिलता है—“मंगी तब तक बोलती रहती, जब तक

ठाकुर उसके आगे से हट न जाते। ठाकुर के मरते ही मंगी ने बखरी छोड़ दी थी। कहती—“का धरा है अब उस मनहूस घर में। अब उस मनहूस घर में अब न वह बात रही, न बात करने वाला। लवंडे-लपाड़ियों का कोई भरोसा।”⁴⁹ यहाँ ‘मंगी तब तक...’ और ‘का धरा है...’ पदबंधों को देखने से बात स्पष्ट हो जाती है। एक अन्य उदाहरण, ‘गनेसी’ कहानी का भी यहाँ दिया जा सकता है—“बूढ़ों की समझ में कुछ आ ही नहीं रहा था—‘गनेसिया ससुरा पूरम्पार पगलाय के लौटा है!’—कहते हुए वे उठ गये। पर बच्चे उसे घेरे ही रहे और वह कहता रहा,...।”⁵⁰ इस प्रकार मार्कण्डेय की कहानियों की भाषा-संयोजना में भाषा के स्तर पर कहानीकार की अपनी दोहरी भूमिका को बड़ी कलात्मकता से निबाहने की कोशिश मिलती है।

रही बात पात्रानुकूल भाषा की, तो यह कहा जा सकता है कि मार्कण्डेय की कहानियों में स्त्री-पुरुष दोनों ग्रामीण जीवन की जन भाषा का प्रयोग करते हैं, जहाँ पात्रों की भाषा तथा उसके रूप से पात्रों की एक जीवंत तस्वीर उभरती है। यहाँ कुछेक कहानियों का जिक्र प्रमाणस्वरूप किया जा सकता है। यहाँ सबसे पहले ‘गुलरा के बाबा’ कहानी के एक पात्र की भाषा देखी जा सकती है। आलोच्य कहानी का पात्र देवी सिंह, जो गुलरा के बाबा का छोटा भाई है, और वह भी एक लठैत। उसकी भाषा में, उसके चरित्र की सामंती ऐंठ तथा अश्लीलता बोध सभी कुछ एक साथ शब्दों में उतरकर उसकी वास्तविक छवि को प्रस्तुत कर देता है—“अरे चैतुआ साले की टाँग टूट गयी। खबर लगी, हम लोग उठ कर पता लगाने चले गये”... “अरे गरूर का नतीजा यही होता है। गट्टा टेढ़ा करने आया था न ठाकुर का! अब इन कमीनों की हिम्मत इतनी हो गयी?” देवी सिंह ने मुँह बनाते हुए कहा।⁵¹ इसी तरह ‘पान-फूल’ कहानी के नीली और रीति आदि बाल चरित्रों की तुतलाहट भरी भाषा में उसका अबोधपन, उसकी निश्छलता, उन्हें स्वाभाविक और विश्वसनीय रूप में चित्रित करती हैं—“कभी नीली मन लटका कर कहती, “देख लीती मैं बीमाल थी न, तो तूने खून दिया था और अब तू बीमाल क्यों नहीं होती, मैं खून दूँगी तुझे, मेली लानी।”... पर रीति हँस पड़ती और कहने लगती, “मैं फिर-फिर खून दूँगी और बीमार नहीं पड़ूँगी।”⁵²

इसी तरह यहाँ ‘साबुन’ कहानी का जिक्र किया जा सकता है। जहाँ पिता के रूप में बटुक का चरित्र बेवसी का भाव लिए एक व्यक्ति की दयनीयता को सूचित करता है—“कौन ऐसी बात कहता है, मुन्नू की माँ! तुम तो ऐसा मेरा सिर खाये जा रही हो, जैसे कोई लड़के की कमाई खाने के लिए ही जी रहा है’... “कौन नहीं चाहता कि बेटा कुछ कमा-धमा कर सुख भोगे।”⁵³ ‘हरामी

के बच्चे' कहानी की सत्ती के पिता के चरित्र की भाषा उस ग्रामीण अपढ़ पीढ़ी को दर्शाती है, जो सामंती संस्कारों के ढोते जाने में ही अपनी (जाति-वर्ग की) मुक्ति मानती है- "सरजुआ नहीं मार सकता, मालिक की सेवा हमारा धर्म है। रामू का बेटा... मालिक के...? ना, ना। उनके जूती के तरे हमारी मुक्ति है। चाहे जो करें, चाहे... .. मालिक की सेवा ही धर्म है। चाहे मालिक जो करें, चाहे सत्ती के मार डाले और का कहीं।"⁵⁴ इसी तरह 'हंसा जाई अकेला' कहानी के ग्रामीण अपढ़ बूढ़ों की भाषा में ठेठपन लिए सवर्ण संस्कार से सिंचित मानसिकता वाला ग्रामीण समाज बोलने लगता है-"मिल गया ससुर को एक काम। गन्ही बाबा का पायक काहे नहीं हो जाता। कौनों कँगरेसी जात-कुजात मेहरारू मिल जाती। गन्ही को कोई विचार थोड़े है, चमार-सियार का छुआ-छिरका तो खाते है।"⁵⁵ जबकि आलोच्य कहानी के बाबा (पात्र) की स्त्री की भाषा में उस ग्रामीण स्त्री की तस्वीर को पहचाना जा सकता है, जो स्त्री-पुरुष के दाम्पत्य जीवन और उससे जुड़ी गृहस्थी में स्वयं को समर्पित किए हुए रहती है-"अब हँसी ठिठोली छोड़ कर, बियाह करो। जब तक देह कड़ी है, दुनिया-हजान है, नही तो रोटी के भी लाले पड़ जायेंगे। कहते क्यों नहीं अपने भइया से? गूँगे-बहरे, कुत्ते-बिल्ली सबका तो बियाह रचाते है, पर तुम्हारा धियान नहीं करते। खेत-बारी, जगह, जमीन सब तो है।"⁵⁶ इसी तरह 'भविष्य वाचन' कहानी में गामा पंडित की भाषा में उसका गाँव की जाति में श्रेष्ठ होने का बोध, उसका ज्ञान का अहंकार उसका अपने ब्राह्मणत्व को देवतुल्य समझने का दर्प आदि इस कदर झलक उठता है, जो उसके चरित्र को जीवंत बना देता है-"ब्राह्मण का इस तरह अनादर करने से कुल पर बज्रपात हो जायगा, प्रसाद! पुत्र कलंक बन जायेगा उसके लिए... कलंक जनमा है उसके घर, कलंक!'... 'वह मुझे क्या देगा, बाम्हन का संतोष ही धन है, मुदा सन्तानपाने पर भी मन में उसके उजास न छिटकी तो जानो नरक ही लिखा है, उसे जिनगी में।"⁵⁷

अतः इस प्रकार देखा जाए तो मार्कण्डेय की कहानियों में पात्रानुकूल भाषा-संयोजन उनकी यथार्थवादी कहानीकार की पहचान को ही प्रमाण पुष्ट करता है। जहाँ भाषा के स्तर पर उनके दोहरे रचाव (पात्र और कहानीकार) का संतुलन तो दिखायी पड़ता ही है। साथ-ही-साथ उनके पात्रों (स्त्री-पुरुष दोनों) की वय, अवस्था, वर्गीय स्थिति, सोच, और मानसिक संस्कार आदि अपनी विविधता में उस पूरे समाज को स्वाभाविक रूप में दर्शाते हैं, जो यथार्थवादी कहानीकार मार्कण्डेय का अभिष्ट है।

7.1.2.2 ग्रामीण शब्द-ध्वनि प्रयोग

मार्कण्डेय की कहानियाँ स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण जीवन के यथार्थ को उसकी समग्रता और संश्लिष्टता में उज्जीवित करने का गंभीर प्रयास करती हैं। इस नाते भी उनकी कहानियों की भाषा-संयोजना में मुख्य रूप से ग्रामीण शब्दों-ध्वनियों को पकड़ने की एक सचेत कोशिश होती है। वेद प्रकाश अमिताभ इस संदर्भ में लिखते हैं—“मार्कण्डेय... अनेक कहानियों में वस्तु और शिल्प के समुचित संग्रथन के प्रति वे सचेत दिखायी देते हैं उनकी कहानियों में शिल्पगत वैविध्य पर्याप्त है और भाषा चरित्रों तथा संदर्भों के सर्वथा अनुरूप है। अधिकतर कहानियाँ ग्राम-परिवेश पर आधारित हैं, अतः आंचलिक शब्दावली की उपस्थिति अस्वाभाविक नहीं है।”⁵⁸

दरअसल, मार्कण्डेय अपनी कहानियों के भाषिक-शिल्प को स्थानीय रंगत देने का जो प्रयास करते हैं, वह उनके द्वारा ग्रामीण जीवन को उसकी अनगढ़ता और जीवंतता में प्रस्तुत करने की दिलचस्पी है। उनके कहानीकार की उक्त दिलचस्पी का जिक्र कहानीकार-आलोचक धर्मवीर भारती भी करते हैं—“मार्कण्डेय की कहानियों में शिल्प के सभी तत्त्व स्थानीय रंगत से लेकर बोली तक जानी पहचानी हुई है और उसे बड़ी सफलतापूर्वक उन्होंने शब्दों में उतारा है।”⁵⁹ इस कारण भी उनकी कहानियों में ठेठ गँवई बोली के साथ तत्सम-तद्भव-विदेशज शब्द भी स्थानीय रंग से लबरेज नज़र आते हैं। यहाँ प्रमाण-स्वरूप उनकी कहानियों के उद्धरण के जरिए उक्त तथ्य की संपुष्टि की जा सकती है। पहले ठेठ गँवई बोली का जिक्र किया जाए—“कवन है रे वह सरपत काट रहा”⁶⁰ (‘गुलरा के बाबा’), “पानी पी लो भइया खूब मुचेमुच्च पेट भर के, नहीं तो पियास लग जाएगी तो परानै गवा समझो।”⁶¹ (‘नौ सौ रुपये और एक ऊँट दाना’), “लड़की का जनम ही बिरथा है भाय! ई ससुरी जाने कहाँ जनम लेती है, जाने कहाँ पहुँच जाती हैं। हमार तो सोच कर करेज फट जाता है। बिटिया की विदा एक तरह की मउत ही जानो भयवा।”⁶² (‘सोहगइला’), “कहाँ ले कर जाए! अगवार-पिछवार तो परायी धरती है। बाग-बगइया में रखवार बइठे हैं। आम की पत्ती भी नोहर है, इस टाले में।”⁶³ (‘दाना-भूसा’), “—मथुरिया इसी ब्रह्मदोख में बिलाय गया। इतनी धन-दौलत, इतनी कमाई-धमाई पर बंश-बरखा के नाम पर बाँड़ा मटकू भी खून का कुल्ला करके, काल का कवर हो गया।”⁶⁴ (‘ब्रह्मदोष’)

इसी तरह तत्सम-तद्भव-देशज-विदेशज शब्दों के प्रयोग के उदाहरण जो स्थानीय रंगत के साथ हैं, उनकी कहानियों से कुछ इस प्रकार दिए जा सकते हैं। ‘सरपत’, ‘अमिलहवा’, ‘भींट’,

‘बखरी’, ‘चेलिक’, ‘लेह सुनवाँ’, ‘चिबोला’, ‘सिलिक’, ‘सिंगार पटार’, ‘उरिन’, ‘लोटा’, ‘छान्ह’, (‘गुलरा के बाबा’), ‘कनकना’, ‘डकराने’, ‘मरकहा’, ‘बिटिया’, ‘तपावन’, ‘गोराई’ ‘चरनी’, ‘पगुरी’, ‘भभर’, ‘बकुलपंखी’, ‘लोहियवा’, ‘नाध’, ‘कुहराम’, ‘ताव’, (‘सवरइया’), ‘लोटिया’, ‘खटोलिया’, ‘हाथ-गोड़’, ‘फुटहा’, ‘पइसा’, ‘चानस’, ‘रक्कत’, ‘सुकुवार’, ‘इमले’, ‘सिकेटरी’, ‘चन्ना’, ‘मनिस्टर’, ‘महिन्ना’, ‘जवहिरो लाल’, ‘गन्हियो महतमा’, ‘सिधानत’, ‘राजनेत’, ‘आन्हर’ (‘नौ सौ रुपये और एक ऊँट दाना’), ‘बिगहा’, ‘भूँय’, ‘सिलमित’, ‘पलस्तर’, ‘लाज-हया’, ‘खित्ते’, ‘मुर्दा’, ‘गाली-गुफ्ता’, ‘होंठ’, ‘बरौनियाँ’, ‘सब्र’, ‘चारपाइयों’, ‘हिरासत’ (‘दौने की पत्तियाँ’), ‘उमिर’, ‘ससुरा’, ‘हुक्का’, ‘झरबेरिया’, ‘बिलल्ला’, ‘धियान’, ‘रतौन्ही’, ‘बियाह’, ‘महत्मा’, ‘ओरउती’, ‘जै हिन्न’, ‘बलमुआ’, ‘दुआरे’, ‘बरम्हा’, ‘फउज’, ‘तखत’, ‘बिगुल’ (‘हंसा जाई अकेला’), ‘पोखरा’, ‘ओड़ान’, ‘करम’, ‘मारे’, ‘टूवबेल’ ‘सिवान’, ‘बँसवट’, ‘सीध’, ‘गड़ारी’, ‘पुरवहो’, ‘नार’, ‘ऐबी’, ‘चौधिराना’, ‘गउखे’, ‘चमरौटी’, ‘माइनर’, ‘दरखास’, ‘खरमेटाव’, ‘परजा’, ‘सँउप’ (‘मधुपुर के सिवान का एक कोना’), ‘सेरभर’, ‘छुतिहा’, ‘लुटिया’, ‘बरन’, ‘भँइस’, ‘भँगेड़ी’, ‘अच्छर’, ‘ताउन’, ‘फेचकुर’, (‘हलयोग’) आदि ।

यहाँ देखा जा सकता है कि मार्कण्डेय अपनी कहानियाँ के पात्रों की भाषा में स्थनीय रंगत लिए ठेठ शब्दों, तत्सम-तद्भव शब्दों की व्यंजन विकृति (मसलन, महिन्ना (महीना), चिनगी (चिनगारी), रक्कत(रक्त), सिधानत(सिद्धांत) तथा विदेशज शब्दों का अपभ्रंश रूप (मसलन, टूवबेल, इमले, सिकेटरी, दरखास’ आदि) का प्रयोग करते हुए ग्रामीण जीवन की यथार्थ छवि उकेरने की कोशिश करते हैं। यही नहीं, वे तो ग्रामीण अपढ़ पात्रों की भाषा के शब्द-व्यवहारों में सार्थक शब्दों के साथ ध्वनि की समानता लिए हुए संपूरक अन्य शब्दों तो कहीं, निरर्थक शब्दों के प्रयोग को स्वाभाविकता को भी अपनी कहानियों की भाषा-संयोजना में बराबर रखते हैं। जिसे प्रमाण-स्वरूप उनकी कहानियों के निम्न प्रयोग के साथ समझा जा सकता है—‘मेले-ठेले’, ‘पूजा-आरजा’, ‘धरम-करम’, ‘सौदा-सुलफ’, ‘सुख-सम्पत्ति’, ‘अपना-पराया’, ‘पशु-परानी’, ‘अनाज-पानी’, ‘हट्टे-कट्टे’, ‘सरग-नरक’, ‘फटी-पुरानी’, ‘हाल-चाल’, ‘बोलना-डोलना’, ‘हमा-सुमा’, ‘दिया-बत्ती’, ‘घाटी-मरहठी’, ‘चमार-सियार’, ‘नौकरी-चाकरी’, ‘जगह-जमीन’, ‘खेती-बारी’, ‘लिपी-पुती’, ‘माया-मोह’, ‘घर-गिरस्ती’, ‘खेत-खलियान’, ‘व्याह-शादी’, ‘सुख-सोहाग’, ‘काला-चिट्ठा’, ‘मरद-मेहरारू’, ‘हँसी-ठिठोली’, ‘नाव-गाँव’, ‘बक-झक’, ‘बइद-डाक्टर’, ‘गुड़-गोबर’, ‘मरनी-

करनी', 'दान-दच्छिना', 'कमाई-धमाई', 'अरुआ-परुआ', 'खर्च-वर्च', 'छुट्टी-उट्टी', 'लेकिन-वेकिन', 'खेत-ओत', औरत-सौरत आदि।

इसी तरह मार्कण्डेय अपनी कहानियों में ध्वन्यात्मक शब्द-संकेत, जो मानवेतर प्राणियों, प्रकृति और पात्रों की मनोदशा की अनुभूतियों के रूप में ग्रामीण जीवन को जीवंत करने का कार्य करते हैं, उनको अपनी भाषा-संयोजना में महत्त्व देते हैं। यहाँ उनकी कहानियों के कुछ उद्धरणों के माध्यम से उक्त तथ्य की संपुष्टि की जा सकती है। मसलन, 'हुआँ-हुँआ' (सियारों की बोली), 'भों-भों' (कुत्तों का भोंकना), 'पेंअ-पेंअ-पेंअअ (चोट खाये कुत्ते की आवाज़), 'धड़म्-धड़ाम, धुम-धुम' (ढोलक की आवाज़), 'घुड़-घुड़-धड़ाम्-धड़ाम्'(जल में पेड़-गिरने की आवाज़), 'हा-आ-आम- -- हा आ आम' (पानी का बहाव), 'हरर्... हर... हर... हर...' (तेज बारिश की आवाज़), 'रुन-झुन... रुन...-झुनुक-झुनुक...झुन (नुपूर की आवाज़) आदि।

अतः यह कहा जा सकता है कि मार्कण्डेय अपनी कहानियों में ग्रामीण जीवन को उसकी जीवंतता में प्रस्तुत करने के लिए ही अपने यथार्थवादी शिल्प के अनुरूप ग्रामीण बोली शब्दों-ध्वनियों को अपनी भाषा-संयोजना में महत्त्व देते हैं।

7.1.2.3 ग्रामीण मुहावरा-लोकोक्तियाँ-उपमान

पूर्वोक्त है कि कहानीकार के रूप में मार्कण्डेय की ग्रामीण जीवन-बोध की कहानियाँ उनकी प्रमुख पहचान हैं। ग्रामीण जीवन ही उनका मूल कथा-क्षेत्र है। उनकी अधिकतर कहानियों का कथानक ग्रामीण आम जन-जीवन के बीच से ही गुजरता है, जिस कारण उनके पात्र खेती-किसानी, मजदूरी-श्रम आदि से प्रत्यक्ष-परोक्ष अपना नाता रखते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं है कि मार्कण्डेय इन्हें जीवंत रूप में प्रस्तुत करने हेतु ग्रामीण आम-जन-जीवन में व्यक्त मुहावरों-लोकोक्तियों-उपमानों आदि का अपनी कहानियों की भाषा-संयोजना में सहारा लेते हैं। आलोचक नन्दल हितैषी इस संदर्भ को कुछ इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—“मार्कण्डेय लोक शब्दावली और मुहावरों से अपनी कथा-यात्रा की संरचना करते हैं, अक्सर वे कुछ नये मुहावरे भी गढ़ते नजर आते हैं जो कहानी की लोक सहजता के लिए जरूरी हैं। गाँव का खेतिहर मजदूर हो, मुहावरा न हो, लोकोक्ति न हो यह भला कैसे संभव हो सकता है।”⁶⁵

यहाँ मार्कण्डेय की कहानियों से लिए गए उद्धरणों के माध्यम से उनकी कहानियों की भाषा-संयोजना में ग्रामीण मुहावरों-लोकोक्तियों-उपमानों के सहज व्यवहार को प्रमाण-पुष्ट होते

हुए देखा जा सकता है। उदाहरण स्वरूप, ग्रामीण मुहावरे—‘माथे पर बल पड़ गये’, भुइयाँ पकड़ लेता’, ‘सिटपिटा गयी’, ‘खाले पड़ गयी’, ‘पाला मार गाया हो’, ‘हुक्का-पानी बंद’, ‘लाट-गवंडरी’, ‘हाथ-फैलाया’, ‘कलेजा फाड़ रहे हो’, ‘लोट-पोट हो रहे हो’, ‘कलेजा सिकुड़ता जा रहा था।’, ‘टस से मस नहीं हुआ’, ‘दिमाग सातवें आसमान पर चढ गया है’, ‘मउत के मुँह में गोड़ लटक रहा है’, ‘घोड़-मुँहे’ ‘बिलाय गया’, ‘माथा ठनका’ आदि। उदाहरणस्वरूप लोकोक्ति,— ‘बरियरा मारे, रोवे न देय’, ‘जबरा मारै रोवे न देय’, ‘मन न रंगायो, रंगायो जोगी कपड़ा’, नौ सौ रुपये और एक ऊँट दाना’, ‘कभी गाड़ी नाव पर, कभी नाव गाड़ी पर’ ‘मनमाना सेओ मुर्गी के अण्डे की तरह’, ‘काला अच्छर भँइस बराबर’ आदि। उदाहरणस्वरूप ग्रामीण उपमान,— ‘कोल्हू की जाट’, ‘अबीरी आकाश’, ‘साँवरी छाह’, जामुन जैसे काले बाल’, ‘मुँह सुख कर अमहर हो गया है’, ‘मुर्दा साँसों’, ‘जेठ की रुपहली चाँदनी’, ‘मोतियों की वर्षा’ सारा शरीर गन्ने के चुसे चेफें-सा’, ‘मटर-सी आँखें’, ‘आलू-सी नाक’, ‘गोल-गोल बिज्जू सरीखी आँखें’ आदि।

अतः यह कहा जा सकता है कि मार्कण्डेय की कहानियों की भाषा-संयोजना में ग्रामीण जीवन के प्रचलित मुहावरों, लोकोक्तियों, उपमानों आदि को काफी जगह मिलती है, जो उनकी कहानियों के यथार्थ को जीवंत बनाता है।

इस प्रकार समग्र रूप में, मार्कण्डेय की कहानियों की भाषा-संयोजना को देखा जाय तो निम्न बातें कही जा सकती हैं। मार्कण्डेय की भाषा-संयोजना में उनका यथार्थवादी शिल्प उभर कर आता है। इसी शिल्प के अनुरूप वे भाषा के स्तर पर लेखक के दोहरे रचाव (कहानीकार-पात्र) के संतुलन को साधते हैं। जहाँ, पात्र अपनी स्वाभाविक छवि में बोलते-बतियाते नजर आते हैं। जहाँ, ग्रामीण बोली की सहजता, तत्सम्-तद्भव विदेशज शब्दों की स्थानीय रंगत का रूप, ग्रामीण ध्वनियों (प्रकृति, मानव-मानवतेर प्राणियों आदि) को पकड़ने की दिलचस्पी तथा ग्रामीण मुहावरे-लोकोक्तियों-उपमानों को महत्त्व देने की नीयत साफ झलकती है।

7.1.3 शैली-संयोजना

शैली-संयोजना भी कहानी के शिल्प के प्रमुख बिंदुओं में से एक है। इससे न सिर्फ कहानी की पहचान बनती है, अपितु कहानीकार की भी, क्योंकि यह शैली ही है जो किसी कहानीकार की अभिव्यक्ति को विशिष्ट बनाती है। अर्थात् शैली में व्यक्तित्व की छाप होती है। कहा भी जाता है—“शैली से अभिप्राय उस विशिष्ट एवं वैयक्तिक अभिव्यक्ति विधि से है, जिसके द्वारा हम किसी

लेखक को पहचानते हैं।”⁶⁶

वैसे भी, कोई रचनाकार अपने अनुभूतिपरक-कथ्य को जब रचना में उतारता है, तो उसे भाषा का ही आश्रय लेना पड़ता है, इसी भाषा-प्रवाह को कहानीकार अपने तरीके से गति देने का कार्य करता है, जो उसकी शैली कहलाती है। अर्थात् शैली का भाषा से एक अनिवार्य संबंध होता है। जिसे डॉ. एन. रवीन्द्रनाथ के निम्न कथन में समझा जा सकता है—“शैली भाषा से अलग वस्तु नहीं है। वह भाषा की चाल एवं गति ही है। शैली भाषा को भावानुकूल रूप प्रदान कर उसकी अभिव्यंजक शक्ति को महत्ता प्रदान करती है। कहा जा सकता है कि भाषा एक स्वाभाविक वस्तु है लेकिन शैली कलाकार का रचना-चातुर्य है। लेखक अपने भावों को अधिक मूर्तिमत्ता प्रदान करने के लिए भावानुकूल भाषा का प्रयोग करता है और शैली उसमें सौंदर्य लाती है।”⁶⁷ अर्थात् शैली-संयोजना में भाषा को प्रवाहपूर्ण बनाने की कहानीकार की कलात्मकता छिपी होती है।

इस संदर्भ में, मार्कण्डेय की कहानी की शैली-संयोजना को देखा जाए तो उनका यथार्थवादी रुख यथार्थवादी शिल्प के अनुरूप भाषा की स्वाभाविकता को ध्यान में रखते हुए उसके प्रवाह को अपनी कल्पनाशीलता से पूरी तरह संयोजित करता है। इसी को मार्कण्डेय कल्पना द्वारा यथार्थ को गाढ़ा कर प्रस्तुत करने का शिल्प कहते हैं—“आधुनिक युग में सभी जागरूक कथाकारों के लिए, कहानी कल्पना की बुनावट न होकर जीवन के यथार्थ का अंग बन गयी है। उसके कथानक जीवन की भौतिकताओं की तरह कठोर एवं सत्य होने लगे हैं, और उसका शिल्प भी समस्त मानवीय व्यवहार की परंपराओं का निर्वाह करने लगा है। ...पहले लेखक कल्पना से कहानी गढ़ता था पर अब कल्पना से उसमें रंग भरता है-यथार्थ को और भी चटख और प्रभावशाली बनाता है।”⁶⁸ जिससे यह समझा जा सकता है कि मार्कण्डेय के कहानीकार की कल्पनाशील शैली उनके यथार्थवादी एप्रोच के विरोध में खड़ी होने के बजाय उनके यथार्थवादी शिल्प को उत्कर्ष प्रदान करते हुए उनके कहानीकार की उस पहचान को गढ़ती है, जो यथार्थ की अभिव्यंजना में कल्पना का कलात्मक उपयोग करती है। उनकी कल्पनाशील शैली उनके ग्रामीण परिवेश की चित्रात्मक वर्णनपरकता में संयत रूप में आती है। यही नहीं, उनके कहानीकार के यथार्थ के प्रति आलोचनात्मक रुख होने के कारण उनकी शैली में सांकेतिकता और व्यंग्यात्मकता भी समाहित मिलती है।

वैसे भी, एक यथार्थवादी कहानीकार की पैनी नजर अपने आस पास के बदलते जीवन

संदर्भों पर होती है। मार्कण्डेय का कहानीकार एक ऐसे द्रष्टा के रूप में स्वयं को पाता है, जो उसके प्रति न सिर्फ आलोचनात्मक रुख रखता है, बल्कि उसकी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति भी चाहता है। इस नाते भी, उनकी ग्रामीण जीवन की कहानियाँ ऐतिहासिक या वर्णनात्मक शैली, जिसमें लेखक एक द्रष्टा या इतिहास लेखक की भाँति सम्पूर्ण कहानी को कहता है, में मुख्य रूप से लिखी गयी हैं। जहाँ ग्रामीण जीवन की सम्पूर्ण और संश्लिष्ट अभिव्यक्ति स्वरूप भाषा की गति को चित्रात्मकता, सांकेतिकता और व्यंग्यात्मकता आदि विशिष्टताओं से संयोजित करने का प्रयास मिलता है। जिसे प्रमाणस्वरूप उनकी कहानियों के उल्लेख से समझा जा सकता है।

7.1.3.1 चित्रात्मकता

उल्लेखनीय है कि मार्कण्डेय की कहानियों की वर्णनात्मक शैली में चित्रात्मकता का पहलू बराबर लक्ष्य किया जाता है। जहाँ, एक कहानीकार के भीतर छिपी कवि की कल्पनाशीलता ग्रामीण जीवन के कथ्य को कलात्मक तरीके से प्रस्तुत करने का परिचय देती है। ग्रामीण जीवन, परिवेश, प्रकृति आदि की यह चित्रात्मकता कहीं भी अलग रूप में नहीं, बल्कि कहानी के चरित्र तथा चरित्र से जुड़े कथानक की संगति में होती है। यहाँ मार्कण्डेय की कहानियों के कुछेक उद्धरणों के जरिए उक्त बात की पुष्टि की जा सकती है।

उदाहरणस्वरूप 'गुलरा के बाबा' कहानी का निम्न अंश—“गुलरा के पलासों पर तो फागुन उतर आया था, अजब का फूल होता है—लाला टेस, और टहनियाँ काली या चितकबरी-वे पत्तियों की। शाम की किरणें रोज उन पर थम जाती है और आम की बगिया की साँवरी छाँह जैसे उसकी ललछहट में एक खैरी मटमैली रेखा से बट जाती है। बाबा एकटक नीचे देख रहे हैं—गोमती की तलहटी में पछुवा का वेग, पानी की लहरें और उसमें पड़ती हुयी सुनहली रेखाएँ और पलास की छायाएँ।”⁶⁹ स्पष्ट है कि यहाँ गुलरा के ग्रामीण परिवेश के फागुन के महीने का जो प्राकृतिक सौन्दर्य का बिंब है, वह कहानी के चरित्र के भीतर के एकाकीपन से घुल-मिल गया प्रतीत होता है। जिसे कहानीकार के भीतर का कवि देखने से नहीं चूकता है। एक अन्य उदाहरण 'पान-फूल' कहानी के निम्न अंश का—‘क्वार का उतरता पखवारा था। अभी शाम नहीं हुई थीं, पर सूरज जल्दी-जल्दी अपनी किरणों के जाल को समेट रहा था। अगल-बगल सनई और ज्वार-बाजरे के बड़े-बड़े पौधे चुप-चाप डरे-से खड़े थे। सनई के फूलों की पंखुड़ियाँ और चकवड़ की पत्तियाँ, जैसे किसी दुख में डूब कर सिकुड़ गयी थीं। हवा बहुत थककर आम की पत्तियों पर सो गयी थी। रास्ता किसी

मधुर स्वप्न में डूबा हुआ था और इधर-उधर हुई कास का मन बुढ़ापे के कारण लटक गया था। नीली रह-रह कर कांस के फूलों को नोच लेती, फिर उसके डंठल को दाँतों से कांट-कर फेंक देती थी।⁷⁰ स्पष्ट है कि यहाँ क्वार महीने के आखिरी दिनों के ग्रामीण परिवेश के पेड़ों, फूलों, पत्तों और फलों समेत प्रकृति के अन्य उपादानों का चित्रात्मक रूप कहानीकार के भीतर के कवि के बाहर आने की बेताबी का परिचय देता है। उसकी उक्त बेताबी को सूरज के किरणों के जाल फेंकने, बाजरे के पेड़ के उरे-सहमे खड़े होने में, चकवड़ की पत्तियों के दुःख से सिकुड़ने में, हवा के आम की पत्तियों पर थक कर सोने, काँस का मन बुढ़ापे के कारण लटकने आदि की कल्पनाशीलता से साफ समझा जा सकता है।

इसी तरह एक अन्य उदाहरण 'महुए के पेड़' कहानी के निम्न अंश का - "रात को जब उजली, धुली चाँदनी की चादर धरती पर फैल जाती और उस विशाल महुए की नंगी-नंगी डालें और उनमें से निकली हुई नन्हीं-नन्हीं, बिना पत्ते की टहनियों के झोंपों से एक-एक फूल टपकता, तो दुखना को लगता, जैसे रेशम की पतली धारियों से स्वर्ग के दूत, उसके आगे मोतियों की वर्षा कर रहे हों। वह एकटक, बहुत ही प्यासी आँखों से देखती-देखती, देर तक अपनी मड़ई के आगे बैठी रहती।"⁷¹ जो यह दर्शाता है कि ग्रामीण प्रकृति के मध्य महुए के पेड़ की उपस्थिति और महुए के पेड़ से जुड़ी प्राकृतिक खूबसूरती का यह बिम्ब दुखना के व्यक्तित्व के छिपे कोमल पक्ष को आलोकित करता है। इसी तरह 'घूरा' कहानी के निम्न प्रसंग का उदाहरण दिया जा सकता है- "आज तीसरा दिन था पर बारिश नहीं थमी, गृहस्थ लोग बार-बार बाहर निकल कर बादलों की ओर देखते पर वे तनिक भी फटते नजर नहीं आ रहे थे उनकी हल्की घुमड़न, और बूँदों की सरसराहट के अतिरिक्त, कोई आवाज कहीं से नहीं आती थी। ऊपर काले कजरारे घनघोर मेघ और नीचे भीगी हल्की-भूरी कीचड़ जिसमें जगह-जगह कूड़ा-करकट, और गोबर के सूखे कंडों के द्वीप और उन द्वीपों के ऊपर रेंगते हुए केचुए, गोबड़ारे और मखमली वीरवधुटियाँ। रह-रह कर आसमान में बादलों की गहरी भूरी किंतु श्वेत लटें धुएँ सी दौड़ जाती और पानी की कड़ी बौछार होने लगती। पानी में बुल्ले उठने लगे थे और लोगों का कहना था कि "यह ताल-पोखर एक करने वाली बरसात के लच्छन है।"⁷² जिससे वर्षा के रूप में प्रकृति के भयावह रूप से ग्रामीण परिवेश की दुरवस्था का चित्र उक्त वर्णनात्मक शैली में जीवंत हो जाता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि मार्कण्डेय की कहानियों की वर्णनपरकता में चित्रात्मक

शैली की विशिष्टता साफ झलकती है, जहाँ ग्रामीण प्रकृति-परिवेश के बिंबात्मक चित्रण में कहानीकार की कल्पनाशीलता कहानी के चरित्र और कथानक की कलात्मक संगति में रहते हुए यथार्थ को प्रभावी बनाने के अभिनव अंदाज के रूप में उभरती है।

7.1.3.2 सांकेतिकता

उल्लेखनीय है कि मार्कण्डेय की ग्रामीण जीवन का कहानियों की शैली संयोजना में वर्णनात्मकता का जो स्वरूप उभरता है, वह सांकेतिकता के पहलू से निबद्ध रहता है। उनकी कहानियों की सांकेतिक शैली कहानी के कथ्य को सघन कर प्रस्तुत करती है। इस संदर्भ में खगेन्द्र ठाकुर के निम्न कथन को पढ़ा जा सकता है—“यह ध्यान देने की बात है कि मार्कण्डेय अपनी यथार्थवादी कहानियों के कथ्य को सांकेतिक ढंग से व्यक्त करते हैं। ...कथ्य मानवीय और कथन-भंगी, बोलचाल की भाषा में, सांकेतिक और प्रतीकात्मक। यह खूबी है मार्कण्डेय की अधिकतर कहानियों की।”⁷³ यहाँ, प्रमाणस्वरूप मार्कण्डेय की कुछेक कहानियों का उल्लेख करते उक्त तथ्य की परीक्षा की जा सकती है।

सबसे पहले उनकी ‘नीम की टहनी’ कहानी का निम्न उद्धरण देखा जाए—“सूरज डूबते ही, सारा गाँव डाइनों के काले लहंगे में उलझ कर बेहोश हो जाता है। हवा का झोका अपनी खूँखार अँगुलियों से, खपरैल के घरों तथा फूस की झोपड़ियों को रह-रह कर छूता है और वे दुबक कर, एक भयानक खामोशी में डूब जाती है। सिवान में सियारों की हुआँड हुआँड सारे गाँव में कुत्तों की भोंड भोंड... लोग कानों में अँगुलिया डाल लेते।”⁷⁴ स्पष्ट है कि यहाँ ग्रामीण परिवेश का अंधेरा और उसकी भयावहता, यह संकेत करती है कि स्वातंत्र्योत्तर गाँव भूत-प्रेत ओर शुभ-अशुभ आदि के सामाजिक कुसंस्कार और अंधविश्वास से मुक्त नहीं है। इसी तरह ‘साबुन’ कहानी का भी जिक्र किया जा सकता है। जहाँ, बादल का उमड़ना, बिजली का चमकना और वर्षा आदि सब कुछ कहानी के कथ्य को संकेतित करता है। यहाँ कहानी के एक दृश्य को उदाहरण स्वरूप देखा जा सकता है—“उसने ऊपर देखा, बखरी के कोने-कोने में गहरी उदासी छायी हुई थी। कहीं एकाध गौरेया के जोड़े चूँ-चूँ कर देते थे और आसमान के एक कोने से बादल का गहरा काला पहाड़ मुँह बाये उठा आ रहा था। उसके मन में सहसा भय रेंग आया-ऐसे बादल को उसने कभी नहीं देखे थे। ये घर उखाड़ देंगे मेरा।”⁷⁵ जिससे परिवार के समक्ष विपरित परिस्थितियाँ स्वरूप संकट के बादल छाने का स्पष्ट संकेत मिलता है। जहाँ कहानी की माँ को अपने घर के उखड़ जाने का

भय रहता है। इसी तरह 'सोहगइला' कहानी का जिक्र किया जा सकता है। रनिया की विदाई के सफर में उसके हाथ से पितृसत्तात्मक संस्कारों का प्रतीक सोहगइला के छूटने का दृश्य सांकेतिक होता है –“क्षण भर बाद, उसने फिर आँखें खोली और चाहा कि चिल्ला कर कुछ कहे, खटोली को रोके, पर खटोली तो कब की बरगद की छाँह में रुक गयी थी और पानी से भरे, उसी पीतल के लोटे को दोनों हाथों से उठाकर मुँह में लगाये, वह यह भूल गयी थी कि सोहगइला कब से उसके हाथ में नहीं है और व्यंग्य की एक तीखी हँसी उसके चेहरे पर बिखर गयी थी।”⁷⁶ जो यह संकेत करता है कि रनिया अपनी माँ की तरह सोहगइला से जुड़ी पितृसत्तात्मक दकियानूसी सोच को ढोने में अंततः स्वयं को असमर्थ पाती है। उसकी व्यंग्यपूर्ण हँसी इस बात का प्रमाण है कि उसकी जैसी स्त्री अपने भविष्य को सोहगइला (पितृसत्तात्मक संस्कार और मान्यताएँ) से मुक्त होने में देखती है।

इसी तरह मार्कण्डेय की कहानी 'एक काला दायरा' के उस प्रसंग का, जब अदालत में न्याय का प्रतीक जज पाँचू जैसे निरपराध को स्वयं की पत्नी की हत्या के लिए सजा सुनाता है, जिक्र किया जा सकता है –“सहसा पाँचू का ध्यान जज के बूढ़े चेहरे पर केन्द्रित हो जाता है। बिजली की रोशनी के कारण पंखे के विशाल डैने की परछाही को जज के बूढ़े चेहरे पर चक्कर काटते हुए वह पहली बार देखता है। फिर क्षण भर बाद ही उसे लगता है, जैसे पंखे के डैनों की सायाएँ एक-दूसरे से मिल गयी हैं और अब एक भूरी साया के दायरे के पीछे जज का चेहरा धुँधलके में धीरे-धीरे डूब रहा है।”⁷⁷ स्पष्ट है कि यहाँ परछाई, साये और अंधेर का जिक्र और उस अंधेरे में जज के चेहरे (न्याय) का डूबना सभी कुछ, प्रतीकात्मक रूप में व्यक्ति के लोकतांत्रिक मूल्य अधिकारों की रक्षा स्वरूप सभी को और समान रूप से मिलने वाली न्याय व्यवस्था पर गहराते अंधकार का संकेत करता है। इसी तरह एक अन्य उदाहरण 'बादलों का टुकड़ा' कहानी के निम्न अंश से दिया जा सकता है –“कुनाई एक खाट पर नंग धिड़ंग, चित्त लेटा था। उसका फूला हुआ पेट और उसकी उभरी हुयी नीली नसें ही सबसे पहले उसे दिखायी पड़ी क्योंकि उसका सिर पेट के अनुपात में बहुत छोटा था। उसे देखकर कुनाई अपनी निरंतर रोने वाली एक पतली और रेंघती हुयी आवाज़ में रोने लगा।”⁷⁸ स्पष्ट है कि यहाँ एक कुपोषित बच्चे के बिंब से, उस परिवार की आर्थिक दुखस्था तो जाहिर होती ही है, साथ ही साथ इससे गाँव के स्वास्थ्य संबंधी स्थिति का भी परिचय प्राप्त होता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि मार्कण्डेय की कहानियों की वर्णनात्मकता में सांकेतिकता एक विशिष्ट शैली है, जो मार्कण्डेय के कहानीकार की यथार्थवादी छवि को प्रतीकित करती है। जिससे मार्कण्डेय का कहानीकार ग्रामीण जीवन-यथार्थ को उसकी समग्रता और संश्लिष्टता में उकेरने में सक्षम होता है।

7.1.3.3 व्यंग्यात्मकता

पूर्वोक्त है कि मार्कण्डेय की पहचान एक ऐसे यथार्थवादी कहानीकार की है, जो यथार्थ को आलोचनात्मक तेवर के साथ उसकी संश्लिष्टता में उज्जीवित करने हेतु सदैव सचेष्ट रहता है। उनकी कहानियों, विशेषकर ग्रामीण जीवनबोध की, में ग्रामीण जीवन की वास्तविकताओं को एक पौने व्यंग्य के साथ जीवंत करने का प्रयास मिलता है। इस कारण भी उनकी कहानियों की वर्णनात्मकता में व्यंग्यात्मक शैली देखने को मिलती है। जैसा कि आलोचक रामविलास शर्मा भी मानते हैं कि -“मार्कण्डेय की कहानियों की विशेषता उनकी करुणा और व्यंग्य है।”⁷⁹ दरअसल, मार्कण्डेय का यथार्थवादी कहानीकार स्वातंत्र्योत्तर परिवर्तन और विकास के नारों और शोरों के बीच जब ग्रामीण आम जन-जीवन में गुणात्मक परिवर्तन और विकास को घटित होते हुए नहीं देखता है, तब उनके कहानीकार की करुणा और संवेदना यथास्थिति पर चोट करने हेतु तत्पर हो जाती है। इस कारण ही उनकी कहानियों की शैली में व्यंग्यात्मकता का पुट शामिल हो जाता है। यहाँ प्रमाणस्वरूप उनकी कुछेक कहानियों के उल्लेख से उक्त बात की परीक्षा की जा सकती है।

इस संदर्भ में सर्वप्रथम उनकी कहानी ‘कल्याणमन’ का उल्लेख किया जा सकता है। इस कहानी में जमींदारी-प्रथा के अंत की घोषणा के बावजूद भी सामंतों की दूसरे की जमीन पर गिद्ध-दृष्टि का बना रहना, एक ज्वलंत सच के रूप में दर्शाया जाता है। आलोच्य कहानी में जमींदारी-प्रथा से जुड़े उक्त सच को मंगी के निम्न कथन में देखा जा सकता है, जहाँ कहानीकार का जमींदारी-प्रथा के अंत पर एक पैना व्यंग्य चस्पाँ रहता है-“कौन जाने मेहमान अब भी फन काढ़े बैठा हो, कल्याणमन जो लेना है, उन्हें।”⁸⁰ यहाँ कल्याणमन में छिपे मेहमान (साँप) के माध्यम से ग्रामीण जमींदारों को प्रतीकित किया गया है, जो साँप की भाँति दूसरों की जमीन पर अपना फन काढ़े बैठे रहते हैं। इसी तरह ‘प्रलय और मनुष्य’ कहानी का उल्लेख किया जा सकता है। आलोच्य कहानी में स्वातंत्र्योत्तर राजनीति के बदलते चरित्र को व्यंग्यात्मक रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास मिलता है जिसे प्रस्तुत कहानी की मेझुकी के स्वर में कुछ तरह सुना जा सकता है-“डरो नहीं, यह

खादी की टोपी है। इसकी दीवारों के बीच हम सुरक्षित हैं। ... यह इस लोक की सबसे बड़ी ढाल है। इसके पीछे कुछ भी छिप सकता है।”⁸¹ स्पष्ट है कि यह कथन कहानीकार की व्यंग्यात्मक शैली को दर्शाता है, जो लोकतंत्र और राजनीति में गांधीवाद की आड़ में अपसंस्कारों को सुरक्षा मिलने की नीतियों पर चोट करती है। इसी तरह ‘आदर्श कुक्कुट-गृह’ कहानी का उल्लेख किया जा सकता है। आलोच्य कहानी में स्वातंत्र्योत्तर विकास कार्यक्रम की सच्चाई पर कहानीकार की व्यंग्यात्मक चोट साफ देखी जाती है। जब आनन-फानन में ग्रामीण आर्थिक विकास-कार्यक्रम के रूप में आदर्श कुक्कुट-गृह की स्थापना से जुड़ा नाटक होता है, जो रमजान जैसों को ठगा-सा रहने को छोड़ देता है—“सभा समाप्त हुई।...इसी बीच पार्टी खत्म हुई और कलक्टर साहब मोटर में जा बैठे। उनका ड्राइवर धीरे से आया और छोटे बी. डी. ओ. को बुलाकर कहने लगा ‘मेम साहब को बड़ा शौक है, मुर्गे के गोस्त का। “हाँ, हाँ, पकड़ न लो।” साहब ने लापरवाही से कहा...रमजान उठा खड़ा हुआ...तब तक धीरे-धीरे चपरासियों ने छोटे साहब को घेर लिया और ...एक-दो...दो-तीन...मुर्गे इक्कों पर बँध गये, साइकिलों के कैरियरों में टँग गये, झोलों में कस लिए गये और मेहमानों के जाते-जाते आदर्श कुक्कुट-गृह खाली हो गया। ... फिर भी आदर्श कुक्कुट-गृह तो बाकायदा स्थापित हो ही चुका था।”⁸² यहाँ कहानीकार की उस व्यंग्यात्मक शैली को साफ पहचाना जा सकता है, जो यह दर्शाती है कि सरकारी अमलों की चिंता आर्थिक विकास-कार्यक्रमों को सरकारी आँकड़ों में दर्ज कराने भर की होती है।

इसी संदर्भ मार्कण्डेय की ‘आदमी का दुम’ कहानी का भी जिक्र किया जा सकता है। जहाँ, स्वातंत्र्योत्तर राजनीति में सेवा की आड़ में व्यक्तिगत हित साधने वाले मिसिर जी जैसे तथाकथित नेता, जो छद्म रचना जानते हैं, उन पर कहानीकार की चोट स्पष्ट होती है—“मिसिर जी हमारी ग्राम-सभा के सभापति हैं।...कई स्कूलों के वे मैनेजर और ब्लाक कमेटी के ऊँचे अधिकारी भी हैं। इधर, चार-पाँच कोस में वे विकास कार्यों के प्रतीक है। मैं दूसरे लोगों को विकास-कार्य के बारे में समझाता है, लेकिन विकास मिसिर जी करते हैं। उनके पास एक नन्हीं सी मुसकान है, जिसकी पूँछ में हर विकास-कार्य के लिए ‘हाँ’ की तख्ती लटकी रहती है।”⁸³ इसी तरह यहाँ ‘हल लिए मजूर’ कहानी का भी उल्लेख किया जा सकता है। आलोच्य कहानी में, कहानीकार की व्यंग्यात्मक शैली को कहानी के पात्र निहोर के निम्न कथन में देखा जाता है—“बेड़ा पार लगे या न लगे, इसमें गरीब जनता का कुछ बनने वाला नहीं है। इस बदलाव के नतीजे को देखकर तो मुझे लगने लगा

है कि ससुरी यह लोकशाही ही ऐसी है। कहो, कितना खून-पसीना एक करके बीस बरस का काँग्रेसी जुआ कंधों से उतारा गया लेकिन फिर जस-का-तस। पैसों वालों की, जमीनवालों की गोटी लाल। उनकी तानाशाही जहाँ की तहाँ।”⁸⁴ जिससे उस लोकतांत्रिक सत्ता-परिवर्तन पर चोट होती है, जहाँ परिवर्तन के रूप में दल केवल बदलते हैं, ग्रामीण आमजन के जीवन में गुणात्मक परिवर्तन नहीं होता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि व्यंग्यात्मक शैली मार्कण्डेय की कहानियों की विशिष्टता है, जो मार्कण्डेय के यथार्थवादी कहानीकार की उस पहचान को गढ़ती है जो अपने आस-पास के समय और जीवन-संदर्भों का तटस्थ द्रष्टा न होकर उसके प्रति आलोचनात्मक रुख रखती है।

इस प्रकार समग्र रूप में, मार्कण्डेय की कहानियों की शैली-संयोजना को देखा जाए तो यह मार्कण्डेय के उस कहानीकार व्यक्तित्व को प्रतिबिम्बित करता है, जो बदलते ग्रामीण जीवन-संदर्भों के यथार्थ की समग्र और संश्लिष्ट अभिव्यक्ति हेतु अपनी कहानियों की वर्णनात्मकता को चित्रात्मकता, सांकेतिकता और व्यंग्यात्मकता आदि विशिष्टताओं से संस्पर्शित करता है।

अतः मार्कण्डेय की कहानियों के शिल्प-पक्ष पर निष्कर्षतः कहा जाए तो निम्न बातें उजागर होती हैं। मार्कण्डेय का कहानीकार शिल्प के प्रति यथार्थवादी रुख रखता है, जहाँ शिल्प की न अवहेलना होती है और ना ही उसके प्रति अतिरिक्त सजगता प्रदर्शित की जाती है। उनकी कहानियों का शिल्प कथा, भाषा और शैली संयोजना के बिंदुओं पर पहचाना जाता है, कहीं भी उनका यथार्थवादी कहानीकार चूकता नहीं है। उनकी कहानियों के कथानक और चरित्र दोनों यथार्थ जीवन-संदर्भों का सशक्त आधार लिए हुए होते हैं। उनकी भाषा पात्रानुकूलता और स्वाभाविकता आदि गुणों से समाविष्ट होती है। उनकी अधिकतर कहानियों में ग्रामीण जीवन की लोक शब्दावलियों, बोली, मुहावरों, लोकोक्तियों, उपमानों की छौंक उनके कहानीकार की विशिष्ट पहचान गढ़ती है। उनकी कहानियों की शैली उस वर्णनपरकता को लिए हुए होती है, जो चित्रात्मकता, सांकेतिकता और व्यंग्यात्मकता आदि पहलुओं से संस्पर्शित होती हैं। सारतः कहा जाए तो मार्कण्डेय की कहानियों का शिल्प उनके यथार्थवादी कहानीकार के अनुरूप होता है।

संदर्भ-सूची

1. जैनेन्द्र, साहित्य का श्रेय और प्रेय, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली प्र.सं.-1961, पृ.-355
2. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र.सं.-2002, भूमिका, भूदान (कहानी-संग्रह), पृ.-248
3. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र.सं.-2002, भूमिका, 'हंसा जाई अकेला' (कहानी-संग्रह), पृ.-186
4. उद्धृत, प्रसाद, डॉ. सुरेन्द्र, मार्कण्डेय का रचना-संसार, क्वालिटी बुक्स पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स, कानपुर, प्र.सं.-2001, पृ.-139
5. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र.सं.-2002, भूमिका, 'भूदान' (कहानी-संग्रह), पृ.-248
6. उपरिवत्, पृ.-247
7. त्रिपाठी, प्रकाश (संपादक), मार्कण्डेय:परंपरा और विकास वचन पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, प्र.सं.: 2010, पृ.10
8. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र.सं.: 2002 पृ. 263
9. उपरिवत्, पृ. 267
10. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र.सं.: 2002, भूमिका 'सहज और शुभ' (कहानी-संग्रह), पृ. 401-402
11. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र.सं.: 2002, पृ. 89
12. उपरिवत्, पृ.-95
13. उपरिवत्, पृ.-115
14. उपरिवत्, पृ.-120
15. उपरिवत्, पृ.-194
16. उपरिवत्, पृ.-198
17. उपरिवत्, पृ.-242-243
18. सिंह, तेज, नागार्जुन का कथा-साहित्य, पराग प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 1993, पृ. 145
19. उद्धृत, अवस्थी, डॉ. देवीशंकर, नयी कहानी: संदर्भ और प्रकृति, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, प्र. सं. 1973 भूमिका पृ. 23
20. मार्कण्डेय, कहानी की बात, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं. : 1984, पृ. 12
21. उपरिवत्, पृ. 98
22. मिश्र, शिवकुमार, यथार्थवाद, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र.सं. : 2009, पृ.239

23. सिन्हा, सुरेश, नयी कहानी की मूल संवदेना, भारतीय ग्रंथ निकेतन, दिल्ली, प्र.सं. : 1966, पृ. 117
24. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र.सं.: 2002, पृ.4
25. उपरिवत्, पृ. 8-9
26. उपरिवत्, पृ. 192
27. उपरिवत्, पृ.-188
28. उपरिवत्, पृ.-189-190
29. उपरिवत्, पृ.-403
30. उपरिवत्, पृ.-407
31. उपरिवत्, पृ.-64
32. उपरिवत्, पृ.-71
33. उपरिवत्, पृ. 85
34. उपरिवत्, पृ. 131
35. उपरिवत्, पृ.137
36. उपरिवत्, पृ. 211-212
37. उपरिवत्, पृ.34
38. उपरिवत्, पृ. 112
39. उपरिवत्, पृ. 227
40. उपरिवत्, पृ. 216
41. उपरिवत्, पृ. 271-272
42. उपरिवत्, पृ. 287-288
43. उपरिवत्, पृ. 115
44. उपरिवत्, पृ. 161
45. उपरिवत्, पृ. 92
46. उपरिवत्, पृ. 320-321
47. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद-1, प्र.सं.: 2002, भूमिका, 'हंसा जाई अकेला' (कहानी-संग्रह), पृ. 184
48. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद-1, प्र.सं.: 2002, पृ. 3
49. उपरिवत्, पृ. 188
50. उपरिवत्, पृ. 505
51. उपरिवत्, पृ.8

52. उपरिवत्, पृ.30
53. उपरिवत्, पृ.114
54. उपरिवत्, पृ. 165-166
55. उपरिवत्, पृ. 214-215
56. उपरिवत्, पृ. 213
57. मार्कण्डेय, हलयोग: मार्कण्डेय की असंकलित कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, प्र.सं. (पैपरबैक): 2012, पृ. 24-25
58. साभार, हिन्दुस्तानी (मार्कण्डेय पर एकाग्र, त्रैमासिक), भाग-71, अंक-3 (जुलाई-सितम्बर), 2010, पृ. 86
59. त्रिपाठी, प्रकाश (संपादक), मार्कण्डेय: परंपरा और विकास, वचन पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, प्र.सं.: 2010, फ्लैप से उद्धृत
60. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र.सं.: 2002, पृ. 3
61. उपरिवत्, पृ. 106
62. उपरिवत्, पृ. 196
63. उपरिवत्, पृ. 319
64. मार्कण्डेय, हलयोग: मार्कण्डेय की असंकलित कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं.: 2012(पैपरबैक), पृ. 30
65. साभार, हिन्दुस्तानी (मार्कण्डेय पर एकाग्र, त्रैमासिक), भाग-71, अंक-3(जुलाई-सितम्बर) पृ. 80
66. उद्धृत, सिंह, तेज, नागार्जुन का कथा-साहित्य, पराग प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं.: 1993, पृ. 168
67. उद्धृत, प्रसाद डॉ. सुरेन्द्र, मार्कण्डेय का रचना संसार, क्वालिटी बुक्स पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स, कानपुर, प्र.सं.: 2001, पृ. 150
68. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय, की कहानियाँ, लोकभारती, प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र.सं.: 2002, भूमिका 'हंसा जाई अकेला' (कहानी-संग्रह), पृ. 185
69. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र.सं.: 2002, पृ. 5
70. उपरिवत्, पृ. 27
71. उपरिवत्, पृ. 132
72. उपरिवत्, पृ. 33
73. साभार, कथा (मार्कण्डेय स्मृति अंक), अंक-15 मार्च 2011, पृ. 246

74. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र.सं.: 2002, पृ. 17
75. उपरिवत्, पृ.115
- 76.उपरिवत्, पृ. 198
77. उपरिवत्, पृ. 459
78. उपरिवत्, पृ. 471
79. शर्मा, रामविलास, कथा विवेचना और गद्यशिल्प, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्र.सं.: 1982, पृ. 87
80. मार्कण्डेय, मार्कण्डेय की कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद-1, प्र.सं.: 2002, पृ. 193
81. उपरिवत्, पृ. 233
82. उपरिवत्, पृ. 267
83. उपरिवत्, पृ. 413-414
84. मार्कण्डेय, हलयोग: मार्कण्डेय की असंकलित कहानियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं.: 2012 (पेपरबैक), पृ. 76